अग्निशिखा

अखिल भारतीय पत्रिका
अप्रैल २०१९

प्रदीपन, प्रेरणा, अन्तर्दृष्टि

(श्रीमाँ द्वारा कथित कहानियाँ)

अग्निशिखा अप्रैल २०१९ वर्ष ४९, अंक ९, पूर्णांक ५८४

विषय-सूची

प्रदीपन, प्रेरणा तथा प्रबोधन-सम्बन्धी कहानियाँ

सन्देश/सम्पादकीय		३
प्रदीपन		५
प्रेरणा		२५
प्रबोधन		३१
'पुरोधा' : दैनन्दिनी		४५
'योग के तत्त्व' : श्रद्धा	श्रीअरविन्द	४८
"मेरी नन्हीं मुस्कान" के नाम पत्र	'श्रीमातृवाणी' से	५०
जगत् निरन्तर विकास कर रहा है	नवजात जी	५३
ज़िन्दगी-रूपी किताब	शक्ति शर्मा	५६
कभी न उऋण होना चाहूँगा	वन्दना	५६
झुंझुनू की सूचना	आवरण ३	५९

अग्निशिखा

श्रीअरविन्द सोसायटी की मासिक पत्रिका

वार्षिक शुल्क : एक वर्ष—१८०रु.; तीन वर्ष—५२०रु.; पाँच वर्ष—८६०रु.

संस्थापक : श्रीअरविन्द सोसायटी

मुद्रक : स्वाधीन चैटर्जी, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस

प्रकाशक : प्रदीप नारंग, श्रीअरविन्द सोसायटी

प्रकाशक स्थल : सोसायटी हाउस, ११ सैं मार्तैं स्ट्रीट, पुदुच्चेरी ६०५००१

मुद्रण-स्थल : श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, नं. ३८, गूबैर ऐवेन्यू,
पुदुच्चेरी ६०५००१, भारत

सम्पादिका : वन्दना

Registered with the Registrar of Newspapers for India: No. 18135/70

दूरभाष संख्याएँ (०४१३) २३३६३९६-९७-९८

Email: info@aurosociety.org

Website: www. aurosociety.org

सन्देश

सदा सीखना, बौद्धिक नहीं मनोवैज्ञानिक रूप से, स्वभाव में प्रगति करना, अपने अन्दर गुण पैदा करना और दोष ठीक करना ताकि हर चीज़ हमें अज्ञान और अक्षमता से मुक्त करने के लिए अवसर हो सके—तब जीवन बहुत अधिक रुचिकर और जीने-योग्य बन जाता है।

—श्रीमाँ

सम्पादकीय : इस अंक में हम श्रीमाँ द्वारा सुनायी गयी कुछ कहानियाँ प्रस्तुत कर रहे हैं जो उन्होंने अपनी बातचीत के दौरान विभिन्न अवसरों पर सुनायी थीं। सभी कहानियाँ कथाएँ नहीं, सच्ची घटनाएँ हैं जो उन्हीं के साथ घटी हैं, इस कारण ये अपने अन्दर ऐसा गभीर अर्थ, ऐसी सोंधी ख़ूशबू लिये चलती हैं कि प्रतीकात्मक कहानियों से भी आगे निकल जाती हैं। यहाँ तक कि उनके द्वारा सुनायी गयी सृष्टि की रचना की कहानियाँ भी सुनी-सुनायी या पुस्तकों से नहीं ली गयी हैं, बल्कि ये सभी श्रीमाँ की दीर्घ आध्यात्मिक यात्रा में हुई अनुभूतियाँ तथा उपलब्धियाँ हैं। ये कथाएँ हमें यह दर्शाती हैं कि भगवान् चीज़ों को किस दृष्टि से देखते हैं, शायद उस सृष्टि की हलकी-सी झाँकी यहाँ-वहाँ कभी हमें भी मिली हो, लेकिन उसका पूरा महत्त्व तो माँ के द्वारा समझाये जाने पर ही हृदयंगम हो सकता है। ये हमें इस बात से भी सचेतन बना देती हैं कि हम अधिक महान् अभिज्ञता तथा सचेतनता के साथ जीवन जी सकते हैं। साथ ही, चूँकि ये सभी वास्तविक जीवन की घटनाएँ हैं, ये हमें यह भी दिखलाती हैं कि जीवन में कुछ भी तुच्छ या सामान्य नहीं है। यहाँ तक कि जिन्हें लोग नगण्य या क्षुद्र कहते हैं उन्हें भी गभीरतर दृष्टिकोण से देखा और परखा जा सकता है। संक्षेप में, ये हमें सच्चे रूप में जीना सिखाती हैं।

मेरे एक मित्र ने भारत की यात्रा की थी। उनसे अपनी यात्रा का विवरण सुनाने को कहा गया। एक वृद्धा आस्तिक महिला भी वहाँ मौजूद थीं। उन्होंने पूछा : "क्या भारत में अन्तरात्माओं की गणना होती है?" मित्र ने उत्तर दिया, "हाँ।" "कितनी हैं वे?" वृद्ध महिला ने पूछा। उन्होंने उत्तर दिया, "केवल एक।"

—श्रीमाँ

प्रदीपन

सृष्टि की कहानी

परम प्रभु ने जब अपने-आपको मूर्त रूप देने का निश्चय किया, ताकि वे अपने-आपको देख सकें तो जिस चीज़ को उन्होंने सबसे पहले अपने में से बाहर प्रकट किया वह था जगत् का 'ज्ञान' और उसे सृष्ट करने की 'शक्ति'। इस 'ज्ञान-चेतना' और 'शक्ति' ने अपना काम शुरू किया; परम 'संकल्प' में एक योजना थी और उस योजना का पहला सिद्धान्त यह था कि मूलभूत 'आनन्द' और 'स्वतन्त्रता' की साथ-ही-साथ अभिव्यक्ति हो जो इस सृष्टि की सबसे रोचक विशेषता मालूम होती है।

तो, इस 'आनन्द' और 'स्वतन्त्रता' को रूपों में अभिव्यक्त करने के लिए मध्यवर्त्ती सत्ताओं की आवश्यकता हुई। और शुरू में चार सत्ताएँ विश्व-विकास का प्रारम्भ करने के लिए बाहर प्रकट की गयीं, यह विश्व-विकास उस सबको क्रमशः बाहर प्रकट करने के लिए था जो परम प्रभु में सम्भाव्यता के रूप में मौजूद था। मूलतः वे सत्ताएं थीं: 'चेतना' और 'प्रकाश', 'जीवन', 'आनन्द' और 'प्रेम' तथा 'सत्य'।

तुम आसानी से कल्पना कर सकते हो कि उनमें एक ऐसी भावना थी कि उनके पास एक महान् शक्ति है, महान् बल है, कुछ ऐसी चीज़ है जो दुर्जेय है, क्योंकि मूलतः वे इन चीज़ों का सत्त्वरूप ही तो थीं। और साथ ही उन्हें चुनाव करने की पूरी स्वतन्त्रता थी क्योंकि यह सृष्टि स्वयं 'स्वतन्त्रता' का साकार रूप बनने वाली थी...। जैसे ही उन्होंने काम करना शुरू किया—इसे कैसे किया जाये इस बारे में उनकी अपनी-अपनी कल्पना थी—पूर्णतः स्वतन्त्र होने के कारण उन्होंने इसे स्वच्छन्द रूप में करना पसन्द किया। सेवक और यन्त्र की वृत्ति को अपनाने की जगह... उन्होंने स्वभावतः स्वामी होने की वृत्ति अपनायी, और यह भूल ही—मैं कह सकती हूँ—विश्व की अव्यवस्था का प्रथम कारण, उसका मूल कारण थी। जैसे ही अलगाव हुआ—क्योंकि मूलभूत कारण यही है, विभाजन—जैसे ही सर्वोच्च सत्ता और उससे प्रकट हुई वस्तु के बीच विभाजन हुआ वैसे ही 'चेतना' निश्चेतना में, 'प्रकाश' अन्धकार में, 'प्रेम' घृणा में, 'आनन्द' कष्ट में, 'जीवन' मृत्यु में और 'सत्य' मिथ्यात्व में परिवर्तित हो गया। और वे

स्वच्छन्द रूप से, विभाजन और अव्यवस्था में अपनी सृष्टि बनाते चले गये।

उसी का परिणाम यह जगत् है जैसा कि हम उसे देखते हैं। यह धीरे-धीरे क्रमिक रूपों में सम्पन्न हुआ; यह सब तुम्हें बताऊँ तो सचमुच बात लम्बी हो जायेगी, परन्तु अन्ततः, इसकी चरम परिणति है जड़-तत्त्व—अन्धकारमय, निश्चेतन, दयनीय...। सर्जक शक्ति ने, जिसने इन चार सत्ताओं को मूलतः संसार की सृष्टि के लिए अपने में से बाहर प्रकट किया था, वह सब देखा जो हो रहा था, और उसने परम प्रभु की ओर मुड़ कर जो अशुभ उत्पन्न हो चुका था उसके उपचार और प्रतिकार के लिए प्रार्थना की।

तब उसे (सर्जक शक्ति को) अपनी 'चेतना' को नीचे निश्चेतना में, अपने 'प्रेम' को इस दुःख में और अपने 'सत्य' को इस मिथ्यात्व में उतारने का आदेश मिला। और, पहली बार जिन्हें प्रकट किया गया था उनकी अपेक्षा अधिक बड़ी चेतना, अधिक सम्पूर्ण प्रेम और अधिक पूर्ण सत्य जड़-तत्त्व की बीभत्सता में मानों कूद पड़े ताकि उसमें चेतना, प्रेम और सत्य को जगा सकें और 'उद्धार' के उस कार्य को आरम्भ कर सकें जिसका प्रयोजन इस भौतिक विश्व को उसके परम स्रोत की ओर वापस ले जाना है।

इस प्रकार, जड़-तत्त्व में ये, जिन्हें "क्रमिक अन्तर्लयन" कहा जा सकता है, हुए हैं और उन अन्तर्लयनों का इतिहास रहा है। और इन्हीं अन्तर्लयनों का वर्तमान परिणाम है, अचेतना में से उभरते अतिमानस का प्रकट होना; पर ऐसा नहीं कहा जा सकता कि इस प्राकट्य के बाद फिर कोई दूसरा नहीं होगा... क्योंकि परम प्रभु अक्षय हैं, और हमेशा नये जगत् बनाते रहेंगे।

तो यह है मेरी कहानी।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ९, पृ. २३२-३३

देवों का जन्म

मधुर माँ, देवी-देवताओं का जन्म कैसे हुआ था?

लेकिन यह यथार्थ रूप में... यह सृष्टि का एक अंग है। जिन्हें हम यहाँ "अदिति" कहते हैं, अर्थात्, सर्जक चेतना; हाँ, तो 'सर्जक चेतना'...

मैं तुम्हें यह चीज़ बिलकुल बचकाने ढंग से सुनाती हूँ :

पहले उन्होंने (अदिति ने) चार सत्ताओं की रचना की; जब उन्हें सर्जन

का कार्य सौंपा गया तो उन्होंने अपनी सत्ता के चार अंश प्रकट किये; और ये चार अंश विश्व को विकसित करने के लिए बनाये गये थे, उन्हें इसका भार सौंप दिया गया। और फिर... मैं इसके बारे में पहले भी तुम्हें एक बार बता चुकी हूँ—हम कह सकते हैं कि मामला बिगड़ गया; तो जब चीज़ें बिगड़ गयीं तो उन्होंने फिर से ऐसी सत्ताओं की सृष्टि की जो देव बनीं; और पहले चार अंशों द्वारा रची गयी अव्यवस्था के समानान्तर, व्यवस्थित विकास भी हुआ, अर्थात्, परम प्रभु के निर्देशन में, क्रमशः 'जड़-भौतिक' की ओर उतरते हुए सभी लोकों की सृष्टि हुई। देवता इसी वंश के हैं जिनकी अभिव्यक्ति बाद में हुई। श्रीअरविन्द जिसे अधिमानस-क्षेत्र कहते हैं उसमें इनकी अधिकाधिक स्थूल रचना हुई। और वहाँ से वे भौतिक जगत् और धरती के सर्जन के अधिष्ठाता बने। और इन कार्रवाइयों में से एक थी, प्रतीकात्मक तरीक़े से सारे विश्व के प्रतिनिधि के रूप में पृथ्वी की रचना, ताकि समस्या को अधिक सघन और एकाग्र किया जाये जिससे वह अधिक आसानी से सुलझायी जा सके। और यह पृथ्वी, ज्योतिष-शास्त्र की दृष्टि से भले अत्यणु और यथासम्भव कम-से-कम महत्त्वपूर्ण क्यों न हो, पर वैश्व सर्जन के गुह्यज्ञान के दृष्टिकोण से यह ऐसा प्रतीक है जो विश्व का इस पूर्णता के साथ प्रतिनिधित्व करता है कि पृथ्वी को रूपान्तरित करके, संसर्ग या अनुरूपता के द्वारा विश्व का रूपान्तर किया जा सकता है, क्योंकि पृथ्वी विश्व का प्रतीक है। यही वह प्रक्रिया है जिसे देवताओं ने अपनाया था। और जिस जगह इन देवताओं की सत्ता का आसन है उसे श्रीअरविन्द 'अधिमानस' कहते हैं।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ७, पृ. १७५-७६

बाइबल की कहानी

तेओं हमेशा मुझसे कहा करते थे कि बाइबल की इस कहानी (स्वर्ग तथा सर्प से सम्बन्धित) की सच्ची व्याख्या यह है कि मानसिक विकास के द्वारा मानवता पशुवत् देवत्व की अवस्था को पार कर सचेतन देवत्व की अवस्था तक पहुँचना चाहती थी और इसे ही ज्ञान के वृक्ष के फल के आस्वादन के प्रतीक के रूप में व्यक्त किया गया है। और तेओं हमेशा कहा करते थे कि वह सर्प सतरंगा था, वह 'प्रिज़्म' के सभी रंगों को प्रतिबिम्बित

करता था और यह भी कि वह अशुभ की आत्मा बिलकुल न था, बल्कि वह क्रमविकास की शक्ति, उसका सामर्थ्य था। और यह स्वाभाविक था कि क्रमविकास की इस शक्ति ने उसे ज्ञान के फल का स्वाद लेने के लिए प्रेरित किया। और तेओं के अनुसार जेहोवा असुरों का प्रधान था, वह सबसे बड़ा असुर था, यह वह स्वार्थी 'ईश्वर' था जो सब पर शासन करना और सबको अपने नियन्त्रण में रखना चाहता था। और स्वभावतः इस बात ने उसे क्रोध में उन्मत्त बना दिया, क्योंकि यह चीज़ चेतना के क्रमविकास की शक्ति द्वारा मनुष्य को देवता बनने के लिए शक्ति प्रदान कर रही थी। और इसीलिए उसने उन्हें स्वर्ग से निर्वासित कर दिया।

यद्यपि यह कहानी बचकाने तरीक़े से कही गयी है, लेकिन इसमें सत्य का बहुत सार है, बहुत सारतत्त्व है।

४ फ़रवरी १९६१ *एक शिष्य के साथ श्रीमाँ के वार्तालाप से*

सावित्री तथा सत्यवान की कहानी

पृथ्वी एक प्रतिनिधिक और प्रतीकात्मक जगत् है, यह क्रमविकास के परिश्रम का एक ऐसा घनीभूत और केन्द्रीभूत परिणाम है जो पृथ्वी को अधिक ठोस वास्तविकता प्रदान करता है। इसे इस रूप में लेना चाहिये: पृथ्वी का इतिहास एक प्रतीकात्मक इतिहास है। और पृथ्वी पर ही परम 'अवतरण' होता है (यह विश्व का नहीं बल्कि पार्थिव सर्जन का इतिहास है); वह 'अवतरण' **पृथ्वी की** व्यक्तिगत सत्ताओं में होता है, केवल पार्थिव वातावरण में ही यह घटित हो सकता है।

हम सावित्री की कहानी लें जो इसकी व्याख्या करती है: वैश्व माता विश्व के हर कोने में उपस्थित हैं और वे वहाँ सदैव कार्यरत रहती हैं, लेकिन केवल पृथ्वी ही ऐसा स्थान है जहाँ क्रमविकास को उसकी पराकाष्ठा पर पहुँचाने और उसके लक्ष्य तक ले जाने के लिए समस्त कर्मों को एक ठोस रूप और आकार दिया जाता है। वे अन्य स्तरों की तरह वायवीय नहीं होते। हाँ तो, पहले वैश्व माँ के प्रतिनिधि-रूप में उतरी एक सत्ता जो धरती को स्वयं को तैयार करने के लिए हमेशा उसकी सहायता के लिए उपस्थित रहती है; फिर जब तैयारी पूरी हो जाये तब अपने कार्य को सम्पन्न करने के लिए अवतरित होंगी स्वयं वैश्व 'माँ'। और यह वे सत्यवान के

साथ करती हैं—सत्यवान धरती की अन्तरात्मा हैं। वे धरती की अन्तरात्मा के साथ बहुत घनिष्ठ रूप में जुड़ी रहती हैं और एक साथ मिल कर वे कार्य करते हैं। उन्होंने अपने कार्य के लिए धरती की अन्तरात्मा को यह कहते हुए चुना है कि 'मैं **यहाँ**, इस स्थान पर अपना कार्य करूँगी।' और कहीं *(श्रीमाँ उच्चतर चेतना के लोकों की ओर संकेत करती हैं)*, बस **रहना** पर्याप्त होता है, और वहाँ चीज़ें बस **बनी रहती हैं**। यहाँ, धरती पर तुम्हें कार्य करना होता है।

निस्सन्देह, स्पष्ट रूप में यहाँ वैश्व प्रतिक्रियाएँ और प्रभाव होते रहते हैं, लेकिन कार्य को यहीं सम्पन्न करना है, कार्यस्थल यही है, पृथ्वी ही है। इसीलिए वैश्व तथा उसके परे की परमानन्दीय स्थिति तथा काल के परे की अति-वैश्व शाश्वतता में निवास करने के स्थान पर वे कहती हैं, 'नहीं, मैं अपना कार्य यहीं करूँगी, मैंने यहीं कार्य करने का चुनाव लिया है।'... 'मैं यहीं काम करना चाहती हूँ, और जब सब कुछ तैयार होगा, जब पृथ्वी तैयार होगी, जब मानवता तैयार होगी, (भले इस तैयारी के बारे में कोई भी सचेतन न हो), जब **महान्, निर्णायक घड़ी आयेगी,** हाँ, तो... मैं अपना कार्य सम्पन्न करने के लिए अवतरित होऊँगी।'

यही है कहानी।

२८ जुलाई १९६१ *एक शिष्य के साथ श्रीमाँ के वार्तालाप से*

पहले असुर की 'परम प्रभु' को चुनौती

मेरे अन्दर एक प्रकार की स्मृति है—एक बहुत ही प्राचीन कथा की स्मृति जो मुझे कभी किसी ने सुनायी नहीं... जिसमें पहले असुर ने परम 'प्रभु' को *चुनौती* देते हुए कहा था, "मैं आपके जितना महान् हूँ!" और उनका उत्तर था, "मैं आशा करता हूँ कि तुम मुझसे अधिक महान् बन जाओगे क्योंकि तब, उसके बाद कोई असुर ही नहीं रहेगा।"

मेरे अन्दर कहीं यह स्मृति बहुत ही जीवन्त है... अगर तुम 'सम्पूर्ण' बन जाओ तो सब सम्पन्न... देखो, असुर की आकांक्षा परम 'प्रभु' से अधिक महान् बनने की है; "मुझसे अधिक महान् बन जाओ, तब कोई असुर ही नहीं रहेगा।"

एक बहुत ही छोटे पैमाने पर यही बात पृथ्वी पर भी लागू होती है।

चेतना की अमुक अवस्था में इस बारे में चिन्ता करना असम्भव हो जाता है कि क्या हो सकता है, क्योंकि सब कुछ उसी एकमेव, समान 'शक्ति', उसी एकमेव, समान 'चेतना', उसी एकमेव, समान 'सामर्थ्य' का *स्पष्ट रूप से* दृष्टिगोचर कार्य होता है। अतः, "अधिकाधिक" शक्तिशाली, और महान् बनने का भाव और इच्छा वही समान 'शक्ति' होती है जो तुम्हें 'असीम' तक विस्तृत कर देती है। जैसे ही तुम सीमा को पार कर जाते हो, बस वह समाप्त हो जाती है।

वे सब पुराने विचार हैं—कि हमेशा दो परस्पर-विरोधी शक्तियाँ होती हैं : 'शुभ' की शक्ति और 'अशुभ' की शक्ति, दो के बीच का युद्ध, जिसमें एक की विजय होती है।... एक समय था जब बच्चों के मनोरञ्जन के लिए ऐसी कहानियाँ लिखी जाती थीं। वे सभी बस बच्चों की कहानियाँ हैं।

प्रगति करने के लिए कुछ लोगों को (या तुम चाहो तो कह सकते हो कि कुछ सत्ताओं, शक्तियों या चेतनाओं को) अपने-आपको न्योछावर करने की आवश्यकता होती है, वे स्वयं को निमग्न कर देते हैं और पूर्ण आत्म-विलयन की उस अवस्था में वे सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं; औरों के लिए पथ एकदम से अलग हो सकता है। वह एक विकास है, एक प्रभुत्व, एक विस्तार जो अपूर्व अनुपात ग्रहण कर लेता है, फैल जाता है... जब तक कि पृथक्ता का भाव विलीन नहीं हो जाता... व्यक्ति किसी भी पथ को अपना सकता है, लेकिन अन्त में सभी पथ एक ही महापथ पर आ मिलते हैं।

अन्ततः, एक ही चीज़ जो आवश्यक है वह है, सभी सीमाओं को समाप्त कर देना।...

३ जुलाई १९६३ *एक शिष्य के साथ श्रीमाँ के वार्तालाप से*

भागवत स्पर्श

बहुत पहले, मैंने फ़्रांस में एक उदाहरण देखा था, एक छोटी, बहुत छोटी लड़की थी जिसने, हम कह सकते हैं, कभी कोई शिक्षा नहीं पायी थी, कोई प्रशिक्षण नहीं पाया था; वह एक ऑपेरा नर्तकी थी और बहुत अच्छी थी। उसे आठ वर्ष की अवस्था में नाच सीखने के लिए भेजा गया था, जैसा कि हमेशा किया जाता है, यानी बचपन में; और उसने इतिहास,

भूगोल, गणित और अन्य विषय सीखने की जगह नृत्य सीखा था। वह अपने-आपको व्यक्त करना नहीं के बराबर जानती थी। उसकी बुद्धि थी तो स्पष्ट, पर थी अनगढ़। हाँ तो, वह इस तरह आकर्षित हुई और उसने भगवान् को खोजने की, अपने-आपको उनके प्रति उत्सर्ग करने की अदम्य आवश्यकता का अनुभव किया। और पहले उसने उनके मान में 'नोत्र दाम' के नट[१] की तरह नाचना शुरू किया; और वह सचमुच विलक्षण रूप से अच्छा नाची। तब, अचानक, उसकी इच्छा हुई कि वह जो अनुभव करती है उसे अभिव्यक्त करे : उसने पत्र लिखने शुरू किये जो अद्‌भुत रूप से काव्यमय थे; वह आश्चर्यजनक बातें कहती और कहने का ढंग तो और भी अधिक आश्चर्यजनक होता था; पन्ने-पर-पन्ने उलटते जाते और वह यह सब असाधारण सरलता के साथ लिखती चली जाती थी।

अब ऐसा हुआ कि कुछ परिस्थितियों के कारण, उसके आगे कुछ कठिनाइयाँ आयीं, उसकी प्रकृति में कुछ ऐसी चीज़ थी जिसने उसे अपने पुराने स्वभाव की ओर खींचा जिसे वह छोड़ चुकी थी, जिसने उसे व्यावहारिक और भौतिकतावादी बना दिया और वह चीज़ों को बाहरी रूप

१. यह नट पैरिस के 'नोत्र दाम' गिरजाघर में सेवक था, अनपढ़ लेकिन भक्ति-भाव से भरा हुआ। रोज़ वह गिरजाघर के पादरियों को अपनी वेश-भूषा में आते, पूजा करते, बाइबल से कुछ पढ़ते और गाते देखता। इसका मन भी 'मैरी' की मूर्ति के सामने कुछ करने को तड़पता था; लेकिन न बिचारे के पास वैसा लिबास था, न वह पढ़ना और गाना ही जानता था।

एक दिन उसने निश्चय किया कि उसे और कुछ तो आता नहीं, इसलिए वह अपनी कला दिखा कर ही देवी को रिझायेगा। अब वह रोज़ दोपहर को सुनसान गिरजाघर में निराले ढंग से पूजा करने लगा। एक दिन उसकी चोरी पकड़ी गयी और बात मुख्य पादरी तक जा पहुँची। उन्होंने उसे कोई दण्ड देने से पहले ख़ुद अपनी आँखों से देखना चाहा।

अगले दिन दोपहर को उन्होंने छिप कर देखा। नट ने अपना प्रदर्शन शुरू किया। तरह-तरह की कलाबाज़ियाँ कीं, गुलाटियाँ खायीं और अन्त में थक कर चूर हो बैठ गया। और यह क्या! पादरी ने देखा मूर्ति सजीव हो उठी। अपने स्थान से निकल, हथेली से नट के माथे का पसीना प्यार से पोंछा और यथास्थान चली गयी। पादरी की आँखें खुल गयीं और उन्होंने सच्चे भक्त को पहचाना। अब वह गिरजाघर का सेवक न रहा, 'मैरी' का अनन्य सेवक हो गया और उसने अपने निराले ढंग से पूजा जारी रखी। —अनुवादक

में देखने लगी। और तुरन्त वह दो शब्द जोड़ने में भी असमर्थ हो गयी, वह वर्तनी की अनगिनत भूलें किये बिना एक पंक्ति भी न लिख पाती थी।

जब वह प्रेरणा की स्थिति में होती थी तो वह एक भी भूल किये बिना, किसी बड़े लेखक की तरह लिखती थी; और जैसे ही वह उस स्थिति से बाहर, सांसारिक चेतना में आ जाती थी, जीवन की ज़रूरतों, हर क्षण की आवश्यकताओं आदि की चेतना में आ जाती थी कि सब कुछ ग़ायब हो जाता था। वह भूलें किये बिना एक पंक्ति भी न लिख पाती थी और वह बिलकुल अपरिष्कृत चीज़ होती थी।

तो देखो, यह प्रमाणित करता है कि अगर तुम सत्य-चेतना को पा लो, तो फिर समाधान करने के लिए कोई समस्या ही नहीं रह जाती। तुम्हें जो होना चाहिये, तुम वही बन जाते हो। तुम्हें जो जानना चाहिये, तुम जान लेते हो। और तुम्हें जो करना चाहिये, वह करने की सामर्थ्य तुम्हारे अन्दर होती है। और स्वभावतः इसका मतलब यह होता है कि ये सब तथाकथित कठिनाइयाँ तुरन्त ग़ायब हो जाती हैं।

मैं जिस लड़की की बात कह रही हूँ, उसे नीचे खींचने वाली चीज़ उसके अपने अन्दर नहीं थी, वह किसी और व्यक्ति में थी। और दुर्भाग्यवश, यही बहुधा होता है : व्यक्ति जीवन में कुछ ऐसे उत्तरदायित्वों का भार ले लेता है जो उसे आगे बढ़ने से रोकते हैं।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ७, पृ. ४३४-३६

"बाघजी"

यह एक बौद्ध कथा है, शायद तुम जानते होगे, है यह आधुनिक पर इसे प्रामाणिक होने का श्रेय प्राप्त है। मैंने इसे श्रीमती आलेग्ज़ांद्रा दाविद नील से सुना था, शायद तुम्हें मालूम हो वे सुविख्यात बौद्ध हैं, विशेषकर इसलिए कि वे ल्हासा पहुँचने वाली पहली यूरोपीय महिला थीं। उनकी यह तिब्बत-यात्रा बहुत संकटपूर्ण और रोमाञ्चकारी थी। इस यात्रा की एक घटना स्वयं उन्होंने मुझे सुनायी थी। इस शाम मैं तुम्हें वही सुना रही हूँ।

वे कुछ सहयात्रियों के साथ यात्रा कर रही थीं और वह एक काफ़िला-सा बन गया था। और तिब्बत जाने के लिए चूँकि इण्डो-चाइना से होकर जाना अपेक्षाकृत अधिक आसान था, अतः वे उसी तरफ़ से जा रहे थे।

इण्डो-चाइना विशाल जंगलों से घिरा है और इन जंगलों में बाघ बहुतायत में पाये जाते हैं। इनमें से कुछ नर-भक्षी बन जाते हैं... और जब ऐसा होता है तो वे उसे "बाघजी" कहते हैं।

एक दिन, गहराती शाम को, जब वे एक घने जंगल के बीच में थे —किसी सुरक्षित स्थान पर डेरा लगा सकने के लिए इस जंगल को पार करना ज़रूरी था—कि श्रीमती नील को ख़याल आया कि उनके ध्यान का समय हो गया है। उन दिनों वे निश्चित समयों पर ध्यान किया करती थीं, बिलकुल नियमित रूप से, बिना कभी चूके। और चूँकि उनके ध्यान का समय हो गया था, उन्होंने अपने साथियों से कहा: "यात्रा जारी रखिये, मैं यहाँ बैठ कर ध्यान करूँगी और ध्यान समाप्त करके आपलोगों से आ मिलूँगी। इस बीच आप अगले पड़ाव तक पहुँच कर डेरा तैयार करें।" "नहीं, नहीं, श्रीमतीजी, यह असम्भव है, एकदम असम्भव," एक कुली ने कहा—अवश्य ही उसने अपनी भाषा में कहा था, पर मैं बता दूँ कि श्रीमती नील तिब्बतियों की तरह तिब्बती भाषा जानती थीं—"यह बिलकुल असम्भव है, इस जंगल में 'बाघजी' हैं और यह उसके भोजन की तलाश में निकलने का समय है। हम आपको नहीं छोड़ सकते और आप यहाँ नहीं रुक सकतीं!" उन्होंने उत्तर दिया: "मुझे उसकी परवाह नहीं, ध्यान सुरक्षा से ज़्यादा ज़रूरी है। आप सब जायें, मैं यहाँ अकेली रहूँगी।"

बहुत बेमन से वे चल पड़े, क्योंकि श्रीमती नील से बहस करना असम्भव था। जब वे किसी काम को करने का निश्चय कर लेती थीं तो उन्हें कोई भी चीज़ उसे करने से न रोक सकती थी। साथी चले गये और वे आराम से एक वृक्ष के नीचे बैठ गयीं और ध्यान में चली गयीं। कुछ देर बाद उन्हें किसी अप्रिय चीज़ की उपस्थिति का अनुभव हुआ। यह देखने के लिए कि वह क्या है उन्होंने आँखें खोलीं... देखा, तीन-चार क़दम दूर, ठीक सामने 'बाघजी' ललचायी आँखों से देख रहा है! तो एक उत्तम बौद्ध की तरह उन्होंने कहा: "अच्छा, यदि इसी तरह मुझे निर्वाण की प्राप्ति होनी है तो ठीक है। बस, मुझे, जैसा कि उचित है, सम्यक् भाव से शरीर छोड़ने की तैयारी करनी चाहिये।" और बिना हिले, बिना ज़रा भी काँपे उन्होंने अपनी आँखें फिर से बन्द कर लीं और ध्यान में, कुछ अधिक गहरे और प्रगाढ़ ध्यान में चली गयीं; संसार-माया से अपने-आपको पूरी तरह अलग

करके उन्होंने अपने-आपको निर्वाण के लिए तैयार कर लिया...। पाँच मिनट बीते, दस मिनट बीते, आधा घण्टा बीत गया—कुछ नहीं हुआ। तब चूँकि ध्यान-समाप्ति का समय हो गया था, उन्होंने अपनी आँखें खोलीं... वहाँ कोई बाघ न था! निश्चय ही, शरीर को इतना निश्चल देख कर उसने सोचा होगा कि यह खाने-योग्य नहीं है! क्योंकि लकड़बग्घे को छोड़ कर अन्य जंगली पशुओं की तरह, बाघ भी मृत शरीर पर नहीं झपटता, उसे नहीं खाता। सम्भवतः उस निश्चलता से प्रभावित होकर—मैं यह नहीं कह सकती कि ध्यान की प्रगाढ़ता से प्रभावित होकर!—वह चला गया था। उन्होंने अपने-आपको अकेला और ख़तरे के बाहर पाया। वे शान्ति से अपने मार्ग पर आगे बढ़ीं और डेरे पर पहुँच कर बोलीं: "लो, मैं यह रही।"

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ९, पृ. ५८-५९

कामना पर विजय पाने का आनन्द

बुद्ध ने कहा है कि कामना को सन्तुष्ट करने की अपेक्षा उस पर विजय पाने में कहीं अधिक आनन्द है। यह एक ऐसा अनुभव है जिसे सभी पा सकते हैं, और जो सचमुच बहुत मज़ेदार है, बहुत ही मज़ेदार।

पैरिस की बात है, किसी को *मासने* के गीति-नाट्य के प्रथम प्रदर्शन के लिए निमन्त्रित किया गया था (प्रथम प्रदर्शन का मतलब है, नाटक का पहला दिन)। मेरा ख़याल है... मुझे अब ठीक याद नहीं वह किसका था। विषय सुन्दर था, नाटक सुन्दर था, और संगीत अरुचिकर नहीं था; यह उसका पहला प्रदर्शन था, यह व्यक्ति ललित-कलाओं के मन्त्री के विशेष कक्ष में निमन्त्रित था। सभी सरकारी नाट्यशालाओं में पहले दिन मन्त्री के लिए विशेष स्थान रहता है। उसने देखा कि ललित-कलाओं का मन्त्री एक भला आदमी था, देहाती बूढ़ा भला आदमी जो पैरिस में बहुत कम रहा था, वह अपने मन्त्री-पद पर नया ही था और नयी चीज़ें देखने में बच्चों का-सा आनन्द ले रहा था। लेकिन वह एक सुसंस्कृत व्यक्ति था, और चूँकि उसने एक महिला को निमन्त्रण दिया था, इसलिए उसने महिला को सामने बिठाया और अपने-आप पीछे बैठा। लेकिन वह था बहुत दुःखी, क्योंकि वह सब कुछ न देख पा रहा था। वह इस तरह झुका हुआ था और ज़्यादा दिखाये बिना कुछ देखने की कोशिश कर रहा था। जो महिला उसके सामने

बैठी थी उसने यह देखा। उसे भी बहुत रस आ रहा था, बहुत सुन्दर लग रहा था, ऐसी बात नहीं है कि वह इसे देख कर प्रसन्न नहीं थी, उसे बहुत मज़ा आ रहा था। उसे नाटक में बहुत आनन्द आ रहा था; लेकिन उसने देखा कि बेचारा मन्त्री देख न पाने के कारण किस हद तक दुःखी था। बिना कोई भाव लाये उसने अपनी कुर्सी पीछे सरका ली, और इस तरह पीछे को हो गयी मानों कुछ और सोच रही हो। वह इतनी अच्छी तरह खिसक गयी कि मन्त्री आगे आ गया और उसने पूरा नाटक अच्छी तरह से देख लिया। यह महिला जब पीछे की ओर खिसकी और उसने नाटक देखने की इच्छा छोड़ दी तो वह एक आन्तरिक आनन्द के भाव से, चीज़ों के लिए सब तरह की आसक्ति से मुक्ति और एक प्रकार की शान्ति से, अपने-आपको सन्तुष्ट कर लेने की जगह किसी और के लिए कुछ करने के सन्तोष से भर गयी, इस हद तक कि उस साँझ के कार्यक्रम में नाटक देखने से उसे जितनी प्रसन्नता होती उससे कहीं अधिक प्रसन्नता हुई। यह एक सच्ची अनुभूति है, यह किसी किताब में पढ़ी हुई छोटी-सी कहानी नहीं है, यह ठीक उस समय की बात है जब वह महिला बौद्ध साधना का अध्ययन कर रही थी और उसका व्यवहार बुद्ध की उस शिक्षा के अनुसार था जिसका अनुभव करने की वह कोशिश कर रही थी।

और सचमुच यह अनुभूति इतनी ठोस थी, इतनी वास्तविक थी कि... दो सेकेण्ड के बाद, मञ्च का नाटक, संगीत, अभिनेता, दृश्य, चित्र आदि सब ग़ायब, बिलकुल गौण चीज़ों की तरह, बिलकुल नगण्य चीज़ों की तरह ग़ायब हो गये, जब कि अपने अन्दर किसी चीज़ पर प्रभुता पाने का, एक ऐसा काम करने का आनन्द जो शुद्ध रूप से स्वार्थपूर्ण नहीं था, ऐसे आनन्द ने उसकी सारी सत्ता को अनुपम स्थिर शान्ति से भर दिया—यह एक आनन्दमयी अनुभूति थी...। यह केवल निजी या व्यक्तिगत अनुभूति नहीं है। जो भी कोशिश करना चाहें इसे पा सकते हैं।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ७, पृ. ४२-४३

प्रशंसा के प्रति उदासीनता

जब मादाम दाविद नील—मैं उनके बारे में कह चुकी हूँ न? मादाम दाविद नील जो उग्र बौद्ध और बौद्ध धर्म की प्रकाण्ड पण्डिता हैं—तो जब

वे भारत आयीं तो कुछ साधुओं और गुरुओं से मिलने गयीं—मैं तुम्हें नाम नहीं बताऊँगी, लेकिन वे एक के पास गयीं जिन्होंने उनकी ओर देखा और पूछा... क्योंकि वे योग और निजी प्रयास आदि के बारे में बातचीत कर रहे थे... उन्होंने उनकी ओर देखा और पूछा : "क्या तुम आलोचना के प्रति उदासीन हो?" तो उन महिला ने सन्तुलित उत्तर देते हुए कहा, "क्या हम कुत्ते के भौंकने की परवाह करते हैं?" लेकिन यह घटना सुनाते हुए उन्होंने मुझसे विनोदपूर्वक कहा : "सौभाग्यवश उन्होंने मुझसे यह नहीं पूछा कि मैं प्रशंसा के प्रति उदासीन हूँ या नहीं, क्योंकि **वह** बहुत ज़्यादा कठिन है!" —'श्रीमातृवाणी', खण्ड ७, पृ. ४२८

सभी के अन्दर छिपी शुद्ध सोने की डली

निःसन्देह, व्यक्ति-व्यक्ति के बीच ऐसा भेद होता है जिसे मिटाया नहीं जा सकता और यह सत्ताओं के अनन्त सोपान में उनकी विशेष भूमिका, उनके स्थान और उनके पद से उत्पन्न होता है। लेकिन यह पद या भूमिका कुछ भी क्यों न हो, उसमें रहते हुए व्यक्ति अपने निजी गुणों को पूर्णता तक विकसित कर सकता है। हर एक पूर्ण सच्चाई, पूर्ण पवित्रता और उस गहरी समस्वरता को पाने की अभीप्सा कर सकता है जो वैश्व व्यवस्था के साथ उसका मेल बिठाती है, और यह अभीप्सा करनी ही चाहिये।

मैं एक ऐसे वृद्ध सन्त को जानती थी जो हर व्यक्ति की तुलना ऐसे खनिज से करते थे जो थोड़ा-बहुत घटिया और थोड़ा-बहुत मूल्यवान् है, लेकिन सभी में सोना है। इस खनिज को आध्यात्मिकता की पावन आग में तपाया जाये तो कुठाली-तली में कम या ज़्यादा भारी डली मिलेगी जो शुद्ध सोने की होगी।

इसलिए हमें अपने अन्दर छिपे इस सोने को उसके उद्गम से मुक्त करना चाहिये। —'श्रीमातृवाणी', खण्ड २, पृ. १२४

रास्ते में ही न रुको

बाहरी तौर पर वह (एक महिला जो आश्रम में आयी थी) एक ऊट-पटाँग कारण से यहाँ आयी थी। वह युवती थी। उसकी सगाई हो चुकी थी पर शादी नहीं हुई थी। युवक ने नाता तोड़ दिया था। वह बहुत दुःखी थी।

बहुत रोयी थी जिससे उसका सुन्दर चेहरा बिगड़ गया था और उस पर झुर्रियाँ पड़ गयी थीं। जब दुःख का भार कम हुआ तो वह उतनी सुन्दर नहीं रही। वह बहुत ज़्यादा परेशान हुई। वह उनलोगों से मिली जिनका पेशा ही लोगों को सुन्दर बनाना है। उन्होंने पैराफ़ीन के इंजेक्शन लगवाने की सलाह दी। उन्होंने कहा : "उसके बाद झुर्रियाँ नहीं रहेंगी!" उसे चरबी के इंजेक्शन लगाये गये, लेकिन मनचाहा परिणाम आने की जगह इधर-उधर चरबी के गुमटे-से निकल आये। वह निराश हो गयी। अब वह पहले से बहुत ज़्यादा कुरूप लगती थी। तब उसे एक नीम-हकीम मिला जिसने कहा : "इंग्लैण्ड में तुम्हारे सुन्दर चेहरे को ठीक करने का कोई उपाय नहीं है। तुम भारत चली जाओ, वहाँ बहुत बड़े-बड़े योगी हैं जो तुम्हें ठीक कर देंगे।" इस कारण से वह यहाँ आयी थी। उसने मुझसे पहली बात यही कही : "देखिये, मेरा चेहरा कितना बिगड़ गया है। क्या आप मेरी सुन्दरता वापस ला सकती हैं?" और मैंने "ना" कर दी! तब उसने योग के बारे में प्रश्न पूछने शुरू किये और वह प्रभावित हुई। उस दिन उसने मुझसे कहा : "मैं अपनी झुर्रियों से पिण्ड छुड़ाने के लिए भारत आयी थी। अब आप जो बातें कह रही हैं उनमें मुझे रस आ रहा है। तो फिर मैं यहाँ आयी क्यों थी? मेरे यहाँ आने का यही सच्चा कारण नहीं हो सकता।" मैंने उसे समझाया कि उसकी बाहरी सत्ता के अतिरिक्त कुछ और भी है, और यह कि उसका चैत्य पुरुष उसे यहाँ तक लाया था। बाहरी हेतु तो केवल बहाने होते हैं जिनका चैत्य पुरुष अपनी उपलब्धि के लिए उपयोग करता है।

लेकिन वह अद्‌भुत महिला थी! शुरू में उसने सबके प्रति, हर चीज़ और हर व्यक्ति के प्रति, बुरे-से-बुरे बदमाश के प्रति भी सद्‌भावना और हितैषिता की वृत्ति अपनायी। वह हर एक का केवल अच्छा पहलू ही देखती थी। वह यहाँ टिक गयी। उसकी चेतना का विकास हुआ और कुछ समय बाद उसने लोगों को उनके अपने रूप में देखना शुरू किया। एक दिन उसने मुझसे कहा : "पहले, जब मैं अचेतन थी तो मैं यह समझती थी कि हर एक अच्छा है, लोग कितने भले मालूम होते थे! आपने मुझे सचेतन क्यों बनाया?" मैंने उत्तर दिया : "रास्ते में ही न रुको, ज़रा और आगे बढ़ो।"

एक बार तुमने योग शुरू कर दिया है तो अन्त तक जाना ही ज़्यादा अच्छा है। —'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. ३-४

श्रद्धा ही चमत्कार करती है

पुराने ज़माने में कुछ लोग सोचते थे कि एक कटे किनारों वाला सिक्का... वह ऐसा ज़माना था जब सिक्कों में छेद नहीं किये जाते थे... अब तो कटे किनारे या छेदवाले सिक्के होते हैं, है न, कुछ देशों में छेदवाले सिक्के चलते हैं, लेकिन उस ज़माने में उनमें छेद नहीं किये जाते थे, और फिर भी कभी-कभी किसी सिक्के में छेद होते थे। और तब सचमुच इस तरह का अन्धविश्वास था, कि जब भी किसी को छेदवाला सिक्का मिला तो वह सौभाग्य लाया। तुम जो करना चाहते थे उसमें तुम्हारे लिए वह सौभाग्य या सफलता लाया।

किसी दफ़्तर में एक कर्मचारी था। वह काफ़ी ग़रीब था और बहुत सफल नहीं था। एक दिन उसे छेदवाला एक सिक्का मिल गया। उसने उसे अपनी जेब में डाल लिया और अपने-आपसे कहा: "अब मैं समृद्ध हो जाऊँगा!" और वह आशा, साहस और ऊर्जा से भर गया, क्योंकि वह जानता था: "अब चूँकि मेरे पास सिक्का है, इसलिए मेरा सफल होना निश्चित है!" और, वास्तव में, वह समृद्ध होता गया, अधिकाधिक समृद्ध। वह अधिकाधिक पैसा कमाता जा रहा था, उसका पद ऊँचा होता जा रहा था और लोग कहते थे: "कितना योग्य मनुष्य है! कितनी अच्छी तरह काम करता है! यह सभी समस्याओं को हल कर देता है!" सचमुच, वह विलक्षण बन गया था, और रोज़ सुबह कोट पहनते समय वह उसे छूता था—इस तरह—यह निश्चित करने के लिए कि उसका सिक्का जेब में है तो...। वह छूता था, वह महसूस करता था कि सिक्का है, और उसे विश्वास रहता था। और फिर, एक दिन, उसे ज़रा कुतूहल हुआ और उसने कहा: "मैं अपने सिक्के को देखूँगा!"—बरसों बाद...। वह अपनी पत्नी के साथ बैठ कर नाश्ता कर रहा था, वह बोला: "मैं अपना सिक्का देखूँगा!" उसकी पत्नी ने कहा: "तुम अपना सिक्का क्यों देखना चाहते हो? कोई ज़रूरत नहीं।"—"हाँ, हाँ, मुझे अपना सिक्का देखने दो।" उसने वह थैला निकाला जिसमें सिक्का रखा था, और देखता क्या है, उसमें सिक्का तो है पर उसमें छेद नहीं है!

उसने कहा: "ओह, यह मेरा सिक्का नहीं है! यह क्या है? किसने मेरा सिक्का बदल दिया?" तब उसकी पत्नी ने कहा: "देखो, एक दिन तुम्हारे

कोट पर धूल थी... मैंने उसे खिड़की के बाहर झाड़ा और सिक्का गिर गया। मैं भूल गयी थी कि उसमें सिक्का रखा था। मैं उसे ढूँढ़ने के लिए दौड़ी लेकिन वह मिला नहीं। किसी ने उसे उठा लिया था। तब मैंने सोचा कि तुम बहुत दुःखी होओगे और मैंने उसमें दूसरा सिक्का रख दिया।" *(हँसी)* निस्सन्देह, उसे विश्वास था कि उसका सिक्का वहाँ है और इतना काफ़ी था।

श्रद्धा ही, विश्वास ही है जो काम करता है, है न... छेदवाला सिक्का तुम्हें कुछ नहीं देता। तुम आज़मा सकते हो। जब विश्वास हो...

तो!... अब बस।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. २६७-६८

तुम सारे समय रचनाएँ बनाते रहते हो

श्रीमती दाविद-नील... जो तिब्बत गयी थीं और जिन्होंने तिब्बत के बारे में किताबें लिखी हैं, और वे बौद्ध थीं; और बौद्ध लोग—कट्टर बौद्ध लोग—भगवान् को नहीं मानते, वे उनकी 'नित्यता' को नहीं मानते, और देवताओं को नहीं मानते जो सचमुच दिव्य होते हैं, लेकिन वे भव्य रूप से जानते हैं कि मानसिक क्षेत्र का किस तरह प्रयोग किया जाता है; बौद्ध साधना तुम्हें मानसिक यन्त्र और मानसिक क्षेत्र का स्वामी बना देती है।

हम बहुत-सी चीज़ों के बारे में बातचीत किया करते थे और एक बार उन्होंने मुझसे कहा: "सुनिये, मैंने एक परीक्षण किया है!" (उन्होंने थियोसोफ़ी का भी थोड़ा-बहुत अध्ययन किया था।) उन्होंने कहा: "मैंने एक महात्मा बनाया; अपने विचार से मैंने एक महात्मा बनाया।" और वे जानती थीं (यह साबित हो चुका है) कि अमुक समय ये मानसिक रचनाएँ अपना व्यक्तिगत जीवन पा लेती हैं जो अपने स्रष्टा से स्वतन्त्र होते हुए भी उससे जुड़ा रहता है, इस अर्थ में स्वतन्त्र कि उनका अपना संकल्प हो सकता है। तो उन्होंने मुझसे कहा: "कल्पना कीजिये, मैंने अपने महात्मा को इतनी अच्छी तरह बनाया था कि वह मुझसे स्वतन्त्र व्यक्तित्व बन गया और सारे समय मुझे तंग करने के लिए आता था! वह आता था, कभी इस बात के लिए डाँटता था, कभी उस बात के लिए सलाह देता था, वह मेरे जीवन का निर्देशन करना चाहता था; और मैं उससे पिण्ड नहीं छुड़ा

पाती थी। यह बहुत कठिन था, मुझे पता नहीं था कि क्या किया जाये!"

तब मैंने उनसे पूछा कि उन्होंने किस प्रकार प्रयास किया था। उन्होंने मुझे वह बताया। उन्होंने कहा : "वह मुझे बहुत तंग करता है, मेरा महात्मा बहुत तकलीफ़देह है। वह मुझे आराम से नहीं रहने देता। वह मुझे ध्यान के समय तंग करता है, मुझे काम करने से रोकता है; और फिर भी मैं भली-भाँति जानती हूँ कि मैंने ही उसे बनाया है और मैं ही उससे पिण्ड नहीं छुड़ा पा रही!" तब मैंने कहा : "यह इसलिए है क्योंकि आपको 'गुर' नहीं मालूम...।" *(माताजी हंसती हैं)* और मैंने उन्हें समझाया कि उन्हें क्या करना चाहिये। और अगले दिन—उन दिनों मैं उनसे लगभग रोज़ मिलती थी, समझे—अगले दिन वे आयीं और उन्होंने कहा : "आह, मैंने अपने महात्मा से मुक्ति पा ली!" *(हंसी)* उन्होंने सम्बन्ध को **काट** नहीं दिया था, क्योंकि इससे कोई काम नहीं बनता। अपनी रचना को फिर से **आत्मसात्** करना जानना चाहिये। यही एकमात्र उपाय है! अपनी रचनाओं को वापस निगल लेना।

लेकिन देखो, एक छोटे पैमाने पर और कम पूर्णता के साथ तुम सारे समय रचनाएँ बनाते ही रहते हो। जब, उदाहरण के लिए, तुम किसी के बारे में बड़ी तीव्रता से सोचते हो तो मानसिक तत्त्व का एक छोटा-सा अंश तुरन्त उस व्यक्ति के पास जा खड़ा होता है, समझे, तुम्हारे विचार का स्पन्दन जाकर उसके स्पन्दन को छूता है; और अगर वह ग्रहणशील है तो वह तुम्हें देखता है। वह तुम्हें देखता है और कहता है : "कल रात तुम मुझसे मिलने आये थे!" यह इसलिए कि तुमने एक छोटी-सी रचना बनायी और वह रचना अपना काम करने चली गयी—यह काम कि वह तुम्हारे और उस व्यक्ति के बीच सम्पर्क स्थापित करे, या अगर तुम्हें उस व्यक्ति से कुछ विशेष बात कहनी थी तो वह तुम्हारा सन्देश पहुँचाये; और वह पहुँचा दिया गया। यह हमेशा होता रहता है; लेकिन चूँकि यह सतत और सहज तथ्य है और अज्ञान में किया जाता है, इसलिए तुम्हें ख़याल तक नहीं आता कि तुम उसे कर रहे हो, तुम उसे यन्त्रवत् करते जाते हो।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. ३१६-१७

संकल्प है, कार्यान्वयन की ओर मुड़ी हुई चेतना की शक्ति। —श्रीमाँ

कल्पना तथा श्रद्धा की शक्ति

कूए एक डॉक्टर था। वह मनोवैज्ञानिक चिकित्सा-पद्धति से, आत्म-सुझाव के द्वारा इलाज करता था, और उसका कहना था कि यह कल्पना का सच्चा कार्य है; और जिसे वह कल्पना कहता था वह श्रद्धा थी। अतः, अपने सभी बीमारों का वह इसी तरह इलाज करता था : बीमारों को ऐसी कल्पनाशील रचना बनानी पड़ती थी जिसमें उन्हें अपने-आपको रोग-मुक्त या कम-से-कम रोग-मुक्ति के पथ पर मानना पड़ता था, और रोग-मुक्त करने वाले विचार से निर्मित इस रचना को प्रभावशाली होने के लिए काफ़ी अध्यवसाय के साथ दोहराया जाता था। इसके परिणाम बहुत विलक्षण होते थे। उसने बहुत-से लोगों को ठीक किया था; हाँ, उसे असफलता भी मिली, और शायद ये बहुत स्थायी रोग-मुक्ति के उपचार न थे, मुझे पता नहीं। लेकिन बहरहाल, उसने बहुत-से लोगों को एक ऐसी चीज़ के बारे में सोचने के लिए बाधित किया जो काफ़ी सच है और जिसका बहुत महत्त्व है : वह यह कि मन रचना करने वाला एक यन्त्र है और अगर हम उचित रूप में इसका उपयोग करना जानें, तो उससे अच्छा परिणाम आता है। उसने निरीक्षण किया—और मेरा ख़याल है कि यह सच है, मेरा निरीक्षण भी इससे सहमत है—कि लोग ग़लत तरीक़े से सोचने में अपना समय बिताते हैं। उनका मानसिक क्रिया-कलाप प्रायः हमेशा ही, आधा निराशाजनक, और आधा विनाशक भी होता है। वे सारे समय उन बुरी चीज़ों के बारे में सोचते और पूर्व-दर्शन करते रहते हैं जो हो सकती हैं, यानी, अपनी करनी के कष्टकर परिणाम; और वे उमड़ती हुई कल्पना द्वारा सब प्रकार की विपदाओं का निर्माण कर लेते हैं। अगर इसी कल्पना का और तरह से उपयोग किया जाता तो स्वभावतः इससे उलटे तथा अधिक सन्तोषजनक परिणाम आते।

अगर तुम अपना अवलोकन करो, अगर तुम... अपने-आपको सोचते हुए पकड़ लो... सहज रूप से, बिना किसी तैयारी के देखो, तो तुम पाओगे कि दस में से नौ बार तुम कोई हानिकर चीज़ सोचने में लगे हो। यह बहुत ही विरल होता है कि तुम सामञ्जस्यपूर्ण, सुन्दर, रचनात्मक, अनुकूल, आशा, प्रकाश और आनन्द से भरी चीज़ें सोचने में लगे हो; परीक्षण कर देखो। अचानक रुक जाओ और अपने-आपको सोचते हुए

देखो, इसी तरह, यूँ: अपने विचार के सामने एक परदा रखो और तुम अपने-आपको, बिना किसी तैयारी के सोचते हुए देखो, दस में से नौ बार तो तुम ऐसा ही पाओगे, और शायद ज़्यादा भी। (यह बहुत ही विरल है, बहुत ही विरल कि दिन-भर में तुम्हें अचानक, क्या होने वाला है या अपनी वर्तमान अवस्था के बारे में या तुम जो करना चाहते हो उसके बारे में, या अपने जीवन-पथ के बारे में या संसार की स्थिति के बारे में—यह तुम्हारी तन्मयता पर निर्भर करता है—कोई चौंधियाने वाला, चकित करने वाला विचार आये।) हाँ, तो तुम देखोगे, प्रायः हमेशा ही, यह छोटे या बड़े, कम या अधिक विस्तृत अनर्थ का पूर्वदर्शन होता है। तुम्हारे अन्दर कोई छोटी-सी चीज़ है जो बिलकुल ठीक नहीं चल रही; अगर तुम अपने शरीर के बारे में सोचते हो तो हमेशा यही कि उसमें कोई अप्रिय चीज़ होने वाली है—क्योंकि जब सब कुछ ठीक-ठीक चल रहा हो तो तुम उसके बारे में सोचते ही नहीं! तुमने यह देखा होगा कि तुम शरीर के बारे में ज़रा भी सोचे बिना, क्रिया करते रहते हो, तुम्हें जो कुछ करना हो, करते रहते हो, और जब अचानक तुम पूछ बैठते हो कि कहीं कुछ गड़बड़ तो नहीं हो रही, कहीं कोई बीमारी तो नहीं है, कोई कठिनाई तो नहीं है, कोई भी चीज़ है क्या, तो तुम अपने शरीर के बारे में सोचने लगते हो और सोचते भी हो चिन्ता के साथ और अपनी अशुभ रचनाएँ बनाना शुरू कर देते हो।

जब कि कूए कहता है... अपने रोगियों को वह इसी तरह स्वस्थ किया करता था; वह डॉक्टर था, वह उनसे कहता था: "तुम यह दोहराते जाओ: 'मैं अच्छा होने लगा हूँ, थोड़ा-थोड़ा करके मैं स्वस्थ हो रहा हूँ', और फिर, है न, 'मैं मज़बूत भी हूँ, मैं काफ़ी स्वस्थ हूँ, मैं यह कर सकता हूँ, मैं वह कर सकता हूँ'।"

मैं एक स्त्री को जानती थी, उसके बाल बहुत बुरी तरह झड़ रहे थे, गुच्छों में। उस पर यह परीक्षण किया गया। उसे कंघी करते समय यह सोचना होता था: "मेरे बाल नहीं झड़ेंगे।" पहली और दूसरी बार कोई परिणाम नहीं आया, लेकिन वह लगी रही और कंघी करने से पहले हर बार वह आग्रह के साथ कहती थी: "मैं कंघी करने वाली हूँ, परन्तु मेरे बाल नहीं झड़ेंगे।" और एक महीने में बालों का झड़ना बन्द हो गया। उसके बाद उसने यह सोचना शुरू किया: "अब मेरे बाल उगेंगे।" और

वह इतनी सफल हो गयी कि मैंने उस स्त्री को सुन्दर बड़े-बड़े बालों के साथ देखा है, और उसी ने मुझे यह बताया था कि गंजे होने की स्थिति तक पहुँचने के बाद उसने इस तरह किया था। यह बहुत, बहुत लाभदायक है। केवल, यह नहीं होना चाहिये कि जब तुम यह रचना बनाते हो, उस समय तुम्हारे मन का कोई और भाग कहे : "ओह, मैं एक रचना बना तो रहा हूँ, पर यह सफल न होगी", क्योंकि इससे तुम अपने ही काम को निष्फल कर देते हो। —'श्रीमातृवाणी', खण्ड ७, पृ. ४-६

मन्त्र की शक्ति

गुरु के द्वारा दिये गये मन्त्र में केवल यही शक्ति होती है कि शिष्य मन्त्रदाता की अनुभूति को उपलब्ध कर ले। मन्त्र में शक्ति तो स्वभावतः होती ही है क्योंकि उसके उच्चारण में अनुभूति सञ्चित होती है। मैंने यह पैरिस में देखा था, उस काल में जब मैं भारत के बारे में कुछ नहीं जानती थी, बस उन सामान्य असंगत बातों के सिवाय एकदम से और कुछ भी नहीं जानती थी। मुझे यह भी पता न था कि मन्त्र होता क्या है। मैं किसी ऐसे व्यक्ति के भाषण में गयी थी जिसने, कहा जाता था कि एक साल तक हिमालय में रह कर योगाभ्यास किया था, तो उसने अपने अनुभव सुनाये थे (वैसे कोई भी बहुत रुचिकर न था)। अचानक, अपने भाषण के दौरान उसने 'ओम्' ध्वनि का उच्चारण किया। और मैंने देखा कि पूरा का पूरा कमरा अकस्मात् प्रकाश से भर गया, स्वर्णिम, स्पन्दनशील प्रकाश से, सम्भवतः केवल मैंने ही इस पर ग़ौर किया। मैंने अपने-आपसे कहा, "ओह, अच्छा!" फिर मैंने उसके बारे में और कुछ नहीं सोचा, मैं इसे भूल गयी। लेकिन, फिर यह अनुभूति मुझे दो-तीन बार भिन्न देशों में, भिन्न व्यक्तियों के साथ हुई, और हर बार जब कभी 'ओम्' की ध्वनि होती मैं उस स्थान को उसी समान प्रकाश से भरा हुआ देखती। तब मेरी समझ में आ गया। उस ध्वनि के अन्दर सहस्रों, सहस्रों वर्षों की आध्यात्मिक अभीप्सा के स्पन्दन हैं—उसमें 'परम' के प्रति मनुष्यों की सम्पूर्ण अभीप्सा समायी हुई है। और स्वाभाविक रूप से उसमें शक्ति विद्यमान है, क्योंकि उसमें अनुभूति उपस्थित है।

११ मई १९६३ *एक शिष्य के साथ श्रीमाँ के वार्तालाप से*

कामनाओं द्वारा रचित वातावरण

जिन लोगों में कामनाएँ होती हैं, वे मानसिक रचना के साथ एक प्रकार का छोटा-सा आवरण जोड़ देते हैं, एक प्राणमय कोष जो उसे ज़्यादा वास्तविक बना देता है। ऐसे लोग अक्सर बहुत-सी छोटी-छोटी सत्ताओं से घिरे रहते हैं जो उनकी अपनी रचनाएँ होती हैं, प्राणिक शक्ति से परिवेष्टित उनकी अपनी मानसिक रचनाएँ, जो सारे समय उन्हें प्रभावित करने के लिए आती हैं और उनसे, अपनी बनायी रचनाओं को, भौतिक रूप से चरितार्थ करवाने की कोशिश करती हैं।

तुमने शायद मोरिस माग्र की किताबें पढ़ी हों; उनमें से कुछ पुस्तकालय में हैं। वे इसका वर्णन करते हैं; मोरिस माग्र यहाँ आये थे और हमारी बातचीत हुई थी। उन्होंने मुझसे कहा कि उन्होंने हमेशा देखा था—वे बहुत संवेदनशील थे—उन्होंने हमेशा देखा था कि जिन लोगों में काम-वासनाएँ होती हैं वे एक प्रकार की बहुत-सी छोटी-छोटी सत्ताओं से घिरे रहते हैं जो कुछ-कुछ लसलसी, बल्कि कुरूप होती हैं और जो उन्हें निरन्तर तंग करती रहती हैं और उनमें वासना जगाती हैं। उन्होंने बताया कि उन्होंने कुछ लोगों के इर्द-गिर्द यह देखा था। यह मच्छरों के झुण्ड से घिरे होने के समान था, हाँ! लेकिन वह ज़्यादा स्थूल होता है, और ज़्यादा भद्दा भी, और वह लसलसा होता है, घिनौना होता है, और वह व्यक्ति के चारों ओर मँडराता रहता है और उसे आराम से रहने नहीं देता, और उसमें उस वासना को जगा देता है जिसने इन सत्ताओं की रचना की थी और ये उसी पर पनपती हैं। यह उनका आहार है। यह बिलकुल सच है। उनका निरीक्षण बिलकुल ठीक था। उनकी अन्तर्दृष्टि बिलकुल सच्ची थी। बात ऐसी ही है।

लेकिन हर व्यक्ति अपने इर्द-गिर्द अपनी कामनाओं का वातावरण लिये घूमता है। इसलिए यह ज़रूरी नहीं है कि लोग तुम्हें कुछ बतायें; तुम बस, एक नज़र डालो और तुम्हें दिख जायेगा कि वे ठीक किस अवस्था में हैं। यह सम्भव है कि वे फ़रिश्ता या सन्त होने का दिखावा करना चाहें, लेकिन वे तुम्हें धोखा नहीं दे सकते, क्योंकि वह चीज़ उनके चारों ओर मँडराती रहती है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. ३१७-१८

प्रेरणा

मृत्यु प्रतीक्षा कर सकती है

रानी एलिज़ाबेथ के विषय में एक सच्ची कहानी प्रचलित है। वे अपने जीवन के अन्तिम दिनों को पहुँच चुकी थीं और सख़्त बीमार थीं। परन्तु उन दिनों देश में कई तरह की समस्याएँ चल रही थीं। टैक्स के प्रश्न को लेकर कुछ लोगों ने (शायद व्यापारी लोग थे) जनता के एक दल के नाम से एक अर्ज़ी पेश करने के लिए एक शिष्टमण्डल बनाया था। रानी अपने कमरे में सख़्त बीमार पड़ी थीं, इतनी बीमार थीं कि वे मुश्किल से खड़ी हो सकती थीं। परन्तु वे उठ खड़ी हुईं और उनसे मिलने के लिए उन्होंने पोशाक पहन ली। जो महिला उनकी सेवा के लिए नियुक्त थी, चिल्ला पड़ी, "परन्तु यह असम्भव है, इस तरह तो तुम्हारी मृत्यु हो जायेगी!" रानी ने शान्ति से उत्तर दिया, "हम बाद में मरेंगी।"... यह उन अनुभवों में से एक उदाहरण है जिन्हें मनुष्य राजा के जीवन में प्राप्त कर सकता है, और यही चीज़ है जो चैत्य पुरुष के चुनाव को सही साबित करती है जब वह इस प्रकार का जीवन ग्रहण करता है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. १७९

कष्टों की हिमवर्षा सच्चों के लिए होती है

अगर तुम सच्ची अभीप्सा के साथ आध्यात्मिक जीवन में आओ तो कभी-कभी तुम्हारे ऊपर अप्रिय वस्तुओं की हिमवर्षा होने लगती है। तुम अपने सबसे अच्छे मित्रों के साथ लड़ पड़ते हो, तुम्हारा परिवार तुम्हें लात मार कर घर से बाहर कर देता है, जिसे तुमने सोचा कि मिल गया है, उसे गँवा बैठते हो...। मैं एक आदमी से परिचित थी जो बड़ी अभीप्सा के साथ, ज्ञान तथा योग के लिए लम्बे प्रयास के बाद भारत आया था। यह बहुत पहले की बात है। उन दिनों लोग घड़ी की ज़ंजीर और छल्ले पहना करते थे। इस आदमी के पास एक सोने की पेंसिल थी जो उसकी दादी ने दी थी। यह व्यक्ति उसके साथ इतना अधिक आसक्त था मानों वह दुनिया-भर में सबसे ज़्यादा मूल्यवान् वस्तु हो। वह उसकी ज़ंजीर के साथ बँधी थी। जब वह भारत या लंका के एक ऐसे बन्दरगाह पर उतरा

जहाँ जहाज़ से बन्दरगाह तक जाने के लिए छोटी नौका में बैठना पड़ता है, जैसे पॉण्डिचेरी, हिन्दुस्तान के कुछ और बन्दरगाह या कोलम्बो, शायद वह कोलम्बो था, तो इस आदमी को जहाज़ की सीढ़ी से नौका में कूदना पड़ा। उसका पाँव चूक गया। उसने अपने-आपको तो सम्भाल लिया, लेकिन उसके अचानक झटके के कारण वह सोने की पेंसिल समुद्र में गिर कर सीधी गहराइयों में चली गयी। पहले तो उसे बहुत दुःख हुआ, लेकिन फिर उसने अपने-आपको समझा लिया: "यह भारत का पहला प्रभाव है: अब मैं आसक्तियों से मुक्त हो गया।" बहुत सच्चे लोगों के लिए चीज़ें ऐसा रूप लेती हैं। कष्टों की हिमवर्षा हमेशा सच्चों के लिए होती है। जो लोग सच्चे और निष्कपट नहीं हैं उनके पास चीज़ें उन्हें धोख़ा देने के लिए बहुत तड़क-भड़क के साथ गहरे रंगों में आती हैं, पर अन्त में उन्हें यह भान करने-योग्य बना देती हैं कि यह उनकी भूल थी। लेकिन जब किसी पर बड़ी कठिनाई आती है तो यह इस बात का प्रमाण है कि उसने निष्कपटता की अमुक अवस्था प्राप्त कर ली है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. १७४-७५

पूर्ण दान

जो कुछ तुम हो उसे दे दो; जो कुछ तुम्हारे पास है उसे दे दो, और तुम्हारा दान पूर्ण हो जायेगा; आध्यात्मिक दृष्टिकोण से वह पूर्ण होगा। यह इस बात पर निर्भर नहीं करता कि तुम्हारे पास कितना धन है या तुम्हारी प्रकृति में कितनी संख्या में सम्भावनाएँ विद्यमान हैं; यह निर्भर करता है तुम्हारे दान की पूर्णता पर, कहने का तात्पर्य, तुम्हारे अर्पण की समग्रता पर। मुझे याद है, भारत के आख्यानों का वर्णन करने वाली एक पुस्तक में, मैंने इस प्रकार की एक कहानी पढ़ी थी। एक बहुत ग़रीब, बहुत बूढ़ी औरत थी जिसके पास कुछ नहीं था, जो बहुत दुखिया थी और एक छोटी-सी टूटी-फूटी झोंपड़ी में रहती थी। उसे एक दिन एक फल मिल गया। वह आम का फल था। उसने आधा फल खा लिया था और बाक़ी आधा दूसरे दिन के लिए रख दिया, क्योंकि वह एक इतना अनोखा फल था जिसे प्राप्त करने का अवसर उसे बार-बार नहीं मिलता था—वह आम था। और तब, रात हो जाने पर, किसी व्यक्ति ने उसके जर्जरित दरवाज़े को खटखटाया

और आतिथ्य की याचना की। वह व्यक्ति अन्दर आया और उसने बुढ़िया से कहा कि उसे रातभर के लिए आश्रय चाहिये और वह भूखा है। इस पर बुढ़िया ने उससे कहा: "बहुत अच्छा। मेरे घर में तुम्हारे तापने के लिए आग नहीं है, तुम्हारे ओढ़ने के लिए कम्बल नहीं है, यह आधा आम बचा हुआ है, बस, इतना-सा ही मेरे पास है यदि तुम इसे पसन्द करो; इसका आधा मैंने खा लिया है।" और बाद में पता चला कि यह व्यक्ति और कोई नहीं, स्वयं शिव थे और वह वृद्धा एक आन्तरिक ज्योति से भर गयी, क्योंकि उसने अपने-आपको और उसके पास जो कुछ था उसे पूर्ण रूप से अर्पित कर दिया था।

मैंने इसे पढ़ा था और यह कहानी मुझे बहुत अपूर्व लगी थी। हाँ, यह बहुत सटीक वर्णन है। यह ठीक वही चीज़ है।

धनाढ्य लोग, यहाँ तक कि वे लोग भी जो बहुत अच्छी अवस्था में हैं और जिन्हें जीवन में सब प्रकार की वस्तुएँ प्राप्त हैं, भगवान् को उतना ही देते हैं जो उनके पास अपनी आवश्यकता से अधिक होता है—क्योंकि साधारणतया यही होता है लोगों का मनोभाव: मनुष्य के पास होता है अपनी आवश्यकता से थोड़ा अधिक धन, मनुष्य के पास होती हैं अपनी आवश्यकता से थोड़ी अधिक वस्तुएँ, और इसलिए, उदारता के साथ, वह उन्हें भगवान् को दे देता है। यह कुछ न देने से बेहतर है। परन्तु मनुष्य की आवश्यकता से यह "थोड़ा अधिक" यदि लाखों रुपयों के भी समान हो तो भी यह दान आधे आम के दान से कम पूर्ण होता है। क्योंकि सच पूछा जाये तो इसका माप परिमाण या प्रकार से नहीं किया जाता: इसका माप होता है दान की सद्हृदयता से और उसकी परिपूर्णता से।...

और जो कहानी मैंने तुमलोगों को सुनायी—इसके अतिरिक्त इस तरह की यहाँ बहुतेरी दूसरी कहानियाँ हैं—उसकी ख़ूबी बस यही है कि जब बुढ़िया ने दिया, वह यह नहीं जानती थी कि वे व्यक्ति स्वयं शिव हैं। उसने तो रास्ते के एक भिखारी को दिया, भलाई करने के, दान करने के आनन्द के लिए दिया, इसलिए नहीं दिया कि यह एक देवता है और उसे यह आशा थी कि बदले में उसे मुक्ति या कोई ज्ञान प्राप्त होगा।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. १८-१९, २१

स्वाधीनता तथा प्रेम

स्वाधीनता!... मुझे याद है मैंने एक ज्ञानी वृद्ध गुह्यवेत्ता को यह सुन्दर उत्तर देते सुना था, उनसे किसी ने कहा था: "मैं स्वाधीन रहना चाहता हूँ! मैं स्वाधीन प्राणी हूँ! मेरा अस्तित्व तभी है जब मैं स्वाधीन होऊँ!" और उन्होंने मुस्कुराहट के साथ उत्तर दिया था: "इसका मतलब हुआ कि तुमसे कोई प्यार नहीं करेगा, क्योंकि यदि तुमसे कोई प्रेम करे तो तुम तुरन्त उसके प्रेम के अधीन हो जाओगे।"

यह एक सुन्दर उत्तर है, क्योंकि वस्तुतः प्रेम ही 'एकता' की ओर ले जाता है और यह 'एकता' ही स्वतन्त्रता की सच्ची अभिव्यक्ति है। जो स्वतन्त्रता के नाम पर उच्छृंखलता का दावा करते हैं वे इस सच्ची स्वतन्त्रता की ओर से पूरी तरह पीठ फेर लेते हैं, क्योंकि वे प्रेम से इन्कार करते हैं।

विकृति आती है ज़बरदस्ती करने से।

कोई बाध्य होकर प्रेम नहीं कर सकता। किसी को प्रेम करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता—तब वह प्रेम नहीं रह जाता। इसलिए, जैसे ही बाध्यता बीच में आती है, वह मिथ्यात्व बन जाता है। आन्तरिक सत्ता की सभी क्रियाएँ सहज-स्वाभाविक क्रियाएँ होनी चाहियें—ऐसी सहज-स्वाभाविकता जो आन्तरिक सामञ्जस्य से, सहानुभूतिपूर्ण समझ से—स्वेच्छा से किये गये आत्मदान से—गभीरतर सत्य की ओर, सत्ता के सच्चे स्वरूप, हमारे 'स्रोत' और 'उद्देश्य' की ओर वापस मुड़ने से आती है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ९, पृ. ५६-५७

तुम्हें भय पर विजय पानी चाहिये

तुम्हें किसी भी चीज़ से भय नहीं खाना चाहिये। रूपान्तर का यह पहला सबक है। इसलिए हर एक को भय को जीतना ही होगा।

जब कभी डर लगे, तुरन्त तुम्हें भगवान् की शरण में चले जाना चाहिये और यह मानना चाहिये कि सभी चीज़ों में 'भगवान्' उपस्थित हैं। तब सभी चीज़ें मनमोहक तथा अद्‌भुत दीखेंगी क्योंकि सचमुच, सभी कुछ भगवान् ही है। भयभीत होने का कोई कारण ही नहीं है।

एक बार रामकृष्ण किसी बड़े पेड़ के नीचे ध्यान लगाये बैठे थे। एक बड़ा-सा कोबरा आया और उसने उनकी कलाई को डस लिया। रामकृष्ण

समाधि से जागे और अपनी कलाई को घिसते हुए उन्होंने कोबरा से पूछा, "हे माँ काली, आपने मुझे डसा क्यों?"

तुरन्त रामकृष्ण भले-चंगे हो गये।

तुम्हें कभी भी, किसी भी चीज़ से डरना नहीं चाहिये।

Mother You Said So: १६ जुलाई १९५६

एक माँ का धीरज

मेरे पास एक बिल्ली थी। पहली बार जब उसने बच्चे दिये तो वह उस जगह से हिलना तक न चाहती थी। न उसने खाना खाया, न प्रकृति की कोई माँग ही पूरी की। वह वहीं डटी रही, बच्चों के साथ लगी रही, उनकी रक्षा करती रही, उनका पोषण करती रही। उसे भय था कि उन्हें कुछ हो न जाये। और यह सोची गयी योजना के अनुसार नहीं था, सहज था। वह हिलती तक न थी। उसे इतना डर था कि उसके बच्चों को कहीं कुछ हो न जाये—केवल सहज बोध का परिणाम था यह। और फिर, जब वे बड़े हो गये तो उसने उन्हें सिखाने में जो कष्ट उठाया वह अद्‌भुत था। और क्या धैर्य था! और उसने उन्हें अपना आहार पकड़ने के लिए एक दीवार से दूसरी दीवार पर कूदना कैसे सिखाया, कैसे, कितनी सावधानी से, उसने एक बार, दस बार और ज़रूरत पड़ने पर सैकड़ों बार एक ही चीज़ दोहरायी। जब तक छोटा बच्चा, जो वह सिखाना चाहती थी, सीख नहीं गया तब तक वह थकी नहीं। एक असाधारण शिक्षा! उसने उन्हें दीवारों की मुँडेर पर चलना, बिना गिरे चलना सिखाया और यह बताया कि जब एक दीवार से दूसरी दीवार के बीच अन्तर बहुत हो तो उसे पार करने के लिए क्या करना चाहिये। छोटे बच्चों ने जब वह अन्तर देखा तो वे काफ़ी घबरा गये और उन्होंने डर के मारे कूदने से इन्कार कर दिया (वह उनके लिए अधिक दूरी न थी, पर अन्तर तो था ही और उनकी हिम्मत न हो रही थी), तब माँ कूद गयी। वह दूसरी ओर चली गयी। उसने उन्हें बुलाया: "आओ, चले आओ।" वे हिले तक नहीं, वे काँप रहे थे। वह लौट आयी और उन्हें एक भाषण दे डाला, उसने उन्हें अपने पंजे से हलके चपत लगाये और उन्हें चाटा। लेकिन वे फिर भी न हिले। वह फिर कूदी। मैं आधे घण्टे से भी ज़्यादा उसे ऐसे करते हुए देखती रही। आधे घण्टे के

बाद उसने देखा कि उन्होंने काफ़ी कुछ सीख लिया था। उसमें जो सबसे अधिक तैयार और सबसे योग्य लगता था, वह उसके पीछे गयी और उसे अपने सिर से ज़ोर का धक्का दिया। तब वह बिलौटा सहज बोध के साथ कूद गया। वह एक बार कूद चुका तो बार-बार, बार-बार कूदता गया...।

कम ही माँएँ ऐसी होंगी जिनमें यह धीरज हो।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. २६८-६९

बाघ बिल्ली बन गया!

मैं एक डेनिश चित्रकार को जानती थी जिसमें बहुत प्रतिभा थी और वह गुह्यविद्या सीखना चाहता था। जानते हो, वह यहाँ भी आया था और श्रीअरविन्द से मिला था; उसने उनका एक चित्र भी बनाया था। यह युद्ध के समय की बात है, और जब वह फ़्रांस वापस आया, तो उसने चाहा कि मैं उसे थोड़ी-बहुत गुह्यविद्या सिखाऊँ। मैंने उसे शरीर से बाहर जाना सिखाया, और भी कई प्रकार के नियन्त्रण, आदि। और मैंने उससे कहा कि इसके लिए पहली वस्तु है, किसी भी प्रकार का भय न हो। एक दिन उसने मेरे पास आकर कहा कि पिछली रात उसे एक स्वप्न आया था। किन्तु वह स्वप्न नहीं था, क्योंकि जैसा कि मैं तुम्हें बता चुकी हूँ, वह कुछ हद तक शरीर से बाहर निकलना जानता था, और वह चेतन रूप में ही बाहर गया था। और एक बार बाहर जाकर वह आस-पास की वस्तुओं को देखने लगा, तभी अचानक उसने एक भयंकर बाघ को अपनी ओर आते देखा, वह बड़े डरावने ढंग से उसकी ओर बढ़ रहा था...। उसे मेरी कही बात याद थी कि उसे डरना नहीं चाहिये। वह अपने-आपसे कहने लगा: "ख़तरे की कोई बात नहीं है, मैं सुरक्षित हूँ, मुझे कुछ नहीं होगा, मैं सुरक्षा की शक्ति से आवेष्टित हूँ," और इस प्रकार वह निडर होकर उस बाघ की ओर देखता रहा। तब तत्काल ही बाघ अधिकाधिक छोटा होने लगा और—अन्त में एक छोटी-सी बिल्ली बन गया! *(सब हँसते हैं)*

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. ४८

चिन्ता कभी न करो। तुम जो कुछ करते हो पूरी सच्चाई के साथ करते जाओ और परिणाम भगवान् के हाथ में छोड़ दो। —*श्रीमाँ*

प्रबोधन

मज़बूत प्राण का चिह्न

जब तुम बाहरी तौर पर कमज़ोर होओ, यानी, जब तुम्हारा प्राण दुर्बल हो, तुम्हें हमेशा बिजली, लड़ाई और उग्र चीज़ें पसन्द आती हैं। इसके विपरीत, अगर तुम्हारा प्राण मज़बूत हो, तुम्हें मधुरता और कोमलता भाते हैं। अब, सन्तुलन रखने के लिए ये परस्पर-विरोधी चीज़ें भी बहुत ज़रूरी हैं। पूरी तरह से पूर्ण बनने के लिए निश्चित रूप से समय तो लगता ही है।

तुम जानते ही हो कि कभी-कभी एक ही व्यक्ति में एकदम से विरोधी क्रियाएँ होती हैं। उदाहरण के लिए, एक राजा था (बहुत सम्भव है वह फ़्रांस का लुई ग्यारहवाँ था) जो दूसरे लोगों के प्रति बहुत ही क्रूर और कठोर था, जब कि वह अपनी सफ़ेद बिल्लियों पर ख़ुद से भी ज़्यादा जान छिड़कता था। लोगों को मार डालने में वह कभी नहीं हिचकिचाता था, लेकिन अगर उसकी बिल्लियों को कुछ हो जाता था तो वह धार-धार आँसू बहाता था।

Mother You Said So: २२ अक्तूबर १९५७

बिलौटा और बिच्छू

एक बिलौटा था। उसकी माँ उसे मुँह में दबाये लिये जा रही थी। अचानक वह उसके मुँह से कूदा और एक बिच्छू के साथ खेलने निकल गया। माँ उसके ऐसे बुरे जीव के साथ खेलने की बहुत विरोधी थी, लेकिन उसने माँ की एक न सुनी। अब, अपने स्वभाव के अनुसार, बिच्छू ने बिलौटे को डस लिया। बिलौटा चीखा-चिल्लाया, ख़ूब रोया। फ़ौरन माँ की तरफ़ दौड़ा और उसे सारी बात सुना दी। माँ ने पूछा, "तुम मेरे मुँह से क्यों निकल भागे थे?"

विरोधी शक्तियाँ बिच्छू की तरह होती हैं। वे सचमुच बड़ी बुरी होती हैं। अगर तुम उनकी तरफ़ ध्यान न दो या उनकी बात पर कान न दो तो अशुभ शक्तियों को नष्ट किया जा सकता है। जब लोगों के सामने विरोधी शक्तियाँ मिथ्या सुझाव रखें तो उन्हें निरन्तर उनको अस्वीकार करना चाहिये। वरना ये शक्तियाँ सब कुछ नष्ट-भ्रष्ट कर देंगी।...

मुझे पता है कि किस तरह क्रोध, नापसन्दगी और असंख्य कामनाओं

तथा व्यर्थ के मामलों के द्वारा विरोधी शक्तियाँ लोगों के मस्तिष्क में घुस जाती हैं। सबसे पहले क्रोध पैरों को धर पकड़ता है और क्रमशः यह नाभि तक चढ़ता हुआ, हृदय से होता हुआ, अन्ततः मस्तिष्क में घुस जाता है। क्रोध से लोगों को बहुत चोट पहुँचती है। एक बार क्रोध मस्तिष्क में प्रवेश कर जाये तो अपने-आपको क़ाबू में लाना कठिन हो जाता है। इसलिए हमें उसे अन्दर आने से हमेशा रोकना चाहिये। तब उसको जीत लेना ज़्यादा आसान होता है। *Mother You Said So*: ५ जून १९५६

'पान्यूर्ज़' की भेड़ें

माताजी, कई ऐसे काल होते हैं जब आश्रम में सामूहिक बीमारी फैल जाती है।...

हाँ, केवल आश्रम में ही नहीं। दुर्भाग्य से, पहले वह शहर में आती है, फिर कोई बहुत आहिस्ता से... ऐसे लोग जो अपना समय शहर में इधर-उधर आने-जाने में बिताते हैं, वे उसे अपने साथ यहाँ ले आते हैं, और फिर यहाँ लोग "पान्यूर्ज़" की भेड़ों की तरह हैं, अगर एक उस बीमारी में फँस जाये, तो इसमें शान मानी जाती है, इसमें शोभा होती है, हर एक उसमें फँस जाता है।... यह राबले की प्रसिद्ध किताबों में से एक है... वह भेड़ों के किसी झुण्ड की कहानी सुनाता है जो किसी नाव पर ले जाया जा रहा था और फिर... पता नहीं उसने (भेड़ ने) यह जान-बूझकर किया या यह संयोग से हो गया, इसकी मुझे अब याद नहीं क्योंकि मैंने यह कहानी बहुत लोगों से भिन्न-भिन्न रूपों में सुनी है... मेरा मतलब है, मेरा ख़याल है कि पुरानी हिन्दू परम्परा में भी ऐसा है, कुछ फ़ारसी कहानियाँ भी इस तरह की हैं, कुछ अरबी कहानियाँ भी इस तरह की हैं; अतः मैं ठीक-ठीक नहीं जानती कि राबले ने क्या कहा; बहरहाल, कहानी यूँ है :

किसी कारण उनमें से एक भेड़ नाव से समुद्र में जा गिरती है, और बाक़ी सब एक के बाद एक उसकी देखा-देखी पानी में जा गिरती हैं *(हँसी)*। चूँकि एक कूद पड़ी, इसलिए सभी हड़बड़ा कर अँधाधुन्ध पानी में जा गिरती हैं। और यह प्रसिद्ध हो गया। वे 'पान्यूर्ज़' की भेड़ें कहलाती हैं।

लेकिन एक ही तरीक़ा है, जैसा कि मैंने करने के लिए कहा, वह है

शान्त, ज्योतिर्मय, नीरव, व्यक्तिगत वातावरण...। तब व्यक्ति 'पान्यूर्ज़' की भेड़ नहीं बनता। —'श्रीमातृवाणी', खण्ड ७, पृ. १६७-६८

प्रचार की भावना

तुम जैसे सोचते हो वैसे ही सोचने के लिए दूसरों को भी बाध्य करने की इच्छा रखने की यह आदत, मुझे सर्वदा बहुत विचित्र मालूम होती रही है; यही चीज़ है जिसे मैं "प्रचार की भावना" कहती हूँ और यह बहुत दूर तक जाती है। तुम एक पग आगे जा सकते हो और यह इच्छा कर सकते हो कि लोग वही करें जो तुम करते हो, वैसा ही अनुभव करें जैसा तुम अनुभव करते हो, और फिर वह चीज़ एक भयावह एकरूपता की ओर ले जाती है। जापान में मेरी मुलाक़ात टॉल्स्टॉय के बेटे से हुई थी जो "मानवजाति की महान् एकता की वृद्धि" के लिए संसारभर की यात्रा कर रहा था। उसका समाधान बड़ा सरल था: प्रत्येक व्यक्ति को एक ही भाषा बोलनी चाहिये, एक ही प्रकार का जीवन बिताना चाहिये, एक ही ढंग से पोशाक पहननी चाहिये, एक ही प्रकार का भोजन करना चाहिये... और मैं दिल्लगी नहीं कर रही हूँ, वह ठीक यही बात कहा करता था। मैं टोकियो में उससे मिली थी; उसने कहा: "परन्तु प्रत्येक व्यक्ति प्रसन्न रहेगा, सभी एक-दूसरे को समझेंगे, यदि प्रत्येक व्यक्ति एक ही कार्य करेगा तो कोई झगड़ा नहीं करेगा।" उसे यह बात समझाने का कोई उपाय नहीं था कि यह चीज़ बहुत युक्तिसंगत नहीं है! वह इसी बात का प्रचार करने के लिए संसारभर की यात्रा करने के लिए निकल पड़ा था, और जब लोग उससे उसका नाम पूछते तो वह कहता: "टॉलस्टॉय"—अब, टॉलस्टॉय, समझे... लोग कहते: "ओह!"—ऐसे बहुत-से लोग थे जो यह नहीं जानते थे कि टॉलस्टॉय मर चुके हैं—और वे सोचते: "ओह! कितना बड़ा सौभाग्य, हम कोई बड़ी विशेष बात सुनने जा रहे हैं!"—और फिर वह यही सन्देश लोगों को सुनाता! हाँ तो, यह केवल उसी मनोभाव का अतिरञ्जित रूप है।

जो हो, मैं तुम्हें विश्वास दिलाती हूँ कि एक समय ऐसा आता है जब मनुष्य स्वयं जिस सत्य की बात सोचता है उसके विषय में दूसरों को विश्वास दिलाने की ज़रा भी, ज़रा भी आवश्यकता अनुभव नहीं करता।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. १२८-२९

प्राणिक सत्ताएँ व्यक्ति को बरबाद कर सकती हैं

मैं एक व्यक्ति की कहानी जानती हूँ जिसे कुछ छोटी-छोटी शक्तियाँ प्राप्त थीं और जो सभी प्रकार के तथाकथित "आध्यात्मिक" प्रयोग करने में लिप्त रहता था। बार-बार अभ्यास करने से उसे एक ऐसी चीज़ के सचेतन सम्पर्क में आने में सफलता प्राप्त हो गयी थी जिसे वह एक "आत्मा" कहता था। वह आदमी व्यापार करता था; वह एक पूँजीपति था और सट्टा भी किया करता था। उसकी "आत्मा" के साथ उसके सम्बन्ध बड़े व्यावहारिक प्रकार के थे! यह आत्मा उससे कहा करती कि कब स्टॉक और शेयर के दाम ऊपर उठेंगे और कब गिर जायेंगे। वह उससे कहती, "इसे बेच दो," "उसे ख़रीद लो"—वह उसे बहुत ही सही आर्थिक विवरण दिया करती थी। वर्षों से वह अपनी "आत्मा" की बात सुनता आ रहा था, उसका अनुसरण करता था और वह ख़ूब सफल था। वह अत्यन्त धनी हो गया और स्वभावतः ही अपनी "आत्मा" के विषय में, जो उसे "मार्ग दिखाती थी", बहुत अधिक डींगें हाँकता था। वह हर व्यक्ति से कहा करता था, "आप देखते हैं, इन आत्माओं के सम्पर्क में आने का तरीक़ा सीखना वास्तव में बड़ा लाभदायी है।" परन्तु एक दिन एक व्यक्ति से उसकी मुलाक़ात हुई जो थोड़ा अधिक समझदार था और जिसने उससे कहा, "सावधान रहो।" उसकी बात उसने नहीं सुनी, वह अपनी शक्ति और महत्त्वाकांक्षा से फूल कर कुप्पा हो चुका था। और फिर उसके बाद ही उसकी "आत्मा" ने उसे अन्तिम सलाह दी, "अब तुम संसार के सबसे बड़े धनी बन सकते हो। तुम्हारी महत्त्वाकांक्षा पूर्ण हो जायेगी। तुम्हें बस मेरे निर्देश का पालन करना होगा। ऐसा करो कि जो कुछ तुम्हारे पास है वह सब इस व्यापार में लगा दो और तुम संसार में सबसे बड़े धनाढ्य बन जाओगे।" वह जड़मति मूर्ख उस जाल को समझ ही नहीं सका जो उसके लिए बिछाया गया था। उसने वर्षों से अपने "पथप्रदर्शक" का अनुसरण किया था और सफल रहा था, अतएव, उसने इस अन्तिम आदेश का पालन किया; और उसने सब कुछ, अपनी अन्तिम पाई तक खो दी।

अतएव तुम देखते हो, ये वे छोटी-छोटी सत्ताएँ होती हैं जो तुम्हारे साथ हँसी-मज़ाक किया करती हैं, और तुम्हें निश्चिन्त करने के लिए, वे इन छोटे-छोटे चमत्कारों को करती और तुम्हें प्रोत्साहित करती हैं, और जब वे

अनुभव करती हैं कि तुम पूरी तरह जाल में फँस गये तो वे तुम्हारे साथ एक बढ़िया-सी चाल चलती हैं और तुम्हारा सब कुछ समाप्त हो जाता है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. १०१-०२

प्रेम की पहली अभिव्यक्ति

यह भी कहा जाता है कि जीवित प्राणियों में प्रेम की पहली अभिव्यक्ति हड़प लेने की इच्छा में होती है जिसमें निगल जाने की, आत्मसात् करने की इच्छा होती है। एक उदाहरण है जिससे यह प्रमाणित होता हुआ लगता है कि यह बात एकदम ग़लत नहीं है। जब शेर अपने शिकार को या साँप अपने शिकार को पकड़ता है तो शेर और साँप, दोनों के शिकार अपने-आपको एक प्रकार के खाये जाने के आनन्द में छोड़ देते हैं। एक आदमी का अनुभव सुनाया जाता है जो अपने साथियों के साथ जंगल में गया था। वह पीछे रह गया। उसे एक नर-भक्षी शेर ने पकड़ लिया। और लोग लौट आये। लौट कर उन्होंने देखा कि वह वहाँ नहीं आया तो वे उसकी तलाश में दौड़े। पैरों के निशान देखते हुए वे ठीक समय पर ही जा पहुँचे और उसे शेर के द्वारा खाये जाने से बचा लिया। जब वह ज़रा होश में आया तो उन्होंने कहा: "तुम्हें तो बड़ा ही भयानक अनुभव हुआ होगा!" उसने कहा: "नहीं, ज़रा कल्पना करो, मालूम नहीं मुझे क्या हुआ, जैसे ही शेर ने मुझे पकड़ा, और जब वह मुझे घसीट रहा था तो मेरे अन्दर उसके लिए तीव्र प्रेम पैदा हो गया और बहुत ज़ोर की इच्छा हुई कि मैं खा लिया जाऊँ!"

यह बिलकुल सच है। यह मनगढ़न्त नहीं है, सच्ची कहानी है।

और हाँ, मैंने अपनी आँखों से देखा है...। मुझे लगता है कि शायद मैं तुम्हें पहले भी सुना चुकी हूँ—एक छोटे-से खरगोश की कहानी जिसे अजगर के पिंजरे में छोड़ा गया था। वह पैरिस के 'ज़ार्दैं दे प्लांत' के पिंजरे में था। वह नाश्ते का दिन था। संयोगवश मैं वहाँ थी। पिंजरा खोला गया और छोटा-सा सफ़ेद खरगोश अन्दर घुसा दिया गया। वह छोटा-सा, सुन्दर, सफ़ेद खरगोश था और वह एकदम भाग कर पिंजरे के दूसरे छोर पर पहुँच गया। वह बुरी तरह काँप रहा था। यह बड़ा भयानक दृश्य था, क्योंकि वह खरगोश भली-भाँति जानता था कि क्या हो रहा है। वह साँप

को भाँप गया, वह बहुत अच्छी तरह जान गया। साँप अपनी चटाई पर कुण्डली मारे बैठा था। ऐसा लगता था कि वह सो रहा है। चुपचाप उसने अपनी गरदन लम्बाई, सिर आगे किया और फिर खरगोश की ओर ताकना शुरू किया। वह बिना हिले-डुले ताकता गया; केवल ताकता गया। मैंने खरगोश को देखा। पहले उसने काँपना बन्द कर दिया। अब उसे डर न था। वह बिलकुल दोहरा हो गया था, और वह ठीक होने लगा। और तब मैंने देखा, उसने अपना सिर उठाया, आँखें पूरी-पूरी खोलीं और साँप की ओर देखना शुरू किया। वह धीरे-धीरे साँप की ओर बढ़ता गया, बढ़ता गया, अब वह ठीक दूरी पर था। अब साँप ने बिना हलचल के, कुण्डली खोले बिना, जहाँ था वहीं से, समझ रहे हो न, एक लपक में उसे ले लिया। और तब उसे बेलना शुरू किया, भोजन के लिए उसे तैयार करना शुरू किया। यह उससे खेलने के लिए न था, यह उसे तैयार करने के लिए था। उसने उसकी सारी हड्डियाँ अच्छी तरह पीस डालीं। उन्हें चटकाया, फिर उस पर गोंद-सी चीज़ लपेट दी ताकि वह बिलकुल आसानी से फिसल सके। और जब वह पूरी तरह तैयार हो गया तो धीरे-धीरे, आराम से निगलना शुरू किया...। लेकिन उसे अपने-आपको परेशान करने की ज़रूरत नहीं पड़ी, उसे ज़रा भी गति नहीं करनी पड़ी, सिवाय उस अन्तिम लपक के जब वह ठीक सामने था। खरगोश ही उसके पास आया था।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. १६५-६६

सुन्दरता सार्वभौम है

अपने किसी लेख में आपने कहा है कि सौन्दर्य विश्वव्यापी है और उसे देखने और पहचानने के लिए व्यक्ति को सार्वभौम होना चाहिये।

हाँ, मेरा मतलब है कि उसे देखने और पहचानने के लिए तुम्हारे अन्दर सार्वभौम **चेतना** होनी चाहिये। उदाहरण के लिए, यदि तुम्हारी चेतना एक जगह तक सीमित है, यानी, राष्ट्रीय चेतना है (किसी एक देश की चेतना) तो जो चीज़ एक देश में सुन्दर है, वह दूसरे देश के लिए सुन्दर नहीं भी हो सकती। सौन्दर्य का भाव भिन्न होता है। उदाहरण के लिए (मैं तुम्हें एक कहानी से हँसा सकती हूँ), मैं पैरिस में दहोमी के एक राजकुमार को जानती थी (वह नीग्रो था—दहोमी का राजा नीग्रो था), और यह लड़का

पैरिस में क़ानून पढ़ने के लिए आया था। वह फ़रासीसी लोगों की तरह फ़रासीसी भाषा बोलता था। फिर भी वह रहा नीग्रो ही—समझे? और उससे पूछा गया (वह हमें अपने छात्र-जीवन की तरह-तरह की कहानियाँ सुनाया करता था), किसी ने मेरे सामने उससे पूछा: "जब तुम्हें ब्याह करना होगा तो किससे ब्याह करोगे?"—"ओह! स्वाभाविक है अपने देश की किसी लड़की से। केवल वे ही सुन्दर होती हैं।..." *(हँसी)* जो लोग नीग्रो नहीं हैं उनके लिए नीग्रो-सुन्दरता को देखना ज़रा कठिन है! लेकिन यह बिलकुल सहज था। उसे पूरा विश्वास था कि किसी के लिए इससे अलग तरह से सोचना असम्भव है...। "केवल मेरे देश की स्त्रियाँ ही सुन्दर होती हैं!"

हर जगह यही बात है। केवल वे जिन्होंने कुछ कलात्मक अभिरुचि को विकसित किया है, जो बहुत घूमे-फिरे हैं और जिन्होंने बहुत कुछ देखा है उन्होंने ही अपनी चेतना का विस्तार किया है, वे ही इस तरह मतान्ध नहीं रहते। लेकिन किसी व्यक्ति को उसकी जाति की विशेष रुचियों से बाहर निकालना बहुत कठिन है। अब मैं देश की भी बात नहीं कर रही, जाति की बात कर रही हूँ। यह बहुत कठिन है। वह अभिरुचि है, जानते हो, एकदम तली में छिपी हुई, अवचेतना में, और वह तुम्हारे जाने बिना ही, बिलकुल सहज रूप में, बिलकुल स्वाभाविक तौर पर वापस आ जाती है। इस बात पर भी कि तुम्हारी जाति की स्त्री और सब जातियों की स्त्रियों से हमेशा ज़्यादा सुन्दर होती हैं—सहज रूप से, यह सहज रुचि है। मेरे कहने का यही मतलब है। तुम्हें इससे ऊपर उठना चाहिये। मैं उन लोगों की बात ही नहीं कर रही जिनके लिए अपने परिवार या अपनी जाति से बाहर की हर चीज़ बुरी या कुरूप होती हो। मैं उन लोगों की बात बिलकुल नहीं कर रही। मैं उन लोगों की भी बात नहीं कर रही जिनके लिए एक देश किसी दूसरे देश से कहीं ज़्यादा सुन्दर है। फिर भी, ये लोग बिलकुल साधारण विचार-धारा से काफ़ी ऊँचे उठ चुके हैं। मैं जाति के सवाल पर भी नहीं बोल रही...। यह बहुत कठिन है। तुम्हें एकदम नीचे जाना होगा, एकदम नीचे अपनी अवचेतना में—या उससे भी नीचे—ताकि इन चीज़ों की जड़ों को खोज सको। इसलिए अगर तुम सौन्दर्य को सौन्दर्य के अर्थ में देखना चाहते हो—जो इन सब अभिरुचियों से स्वतन्त्र है, जातिगत रुचियों से—तो तुम्हारे अन्दर वैश्व चेतना होनी चाहिये। अन्यथा तुम उसे कैसे पा सकते

हो? तुम्हारे अन्दर हमेशा पसन्दें बनी रहेंगी। वे सक्रिय और सचेतन पसन्दें न भी हों, पर वे अवचेतन पसन्दें होती हैं, सहज वृत्तियाँ होती हैं। इसलिए सब रूपों से मुक्त सच्चे सौन्दर्य को जानने के लिए तुम्हें सब रूपों से ऊपर उठना होगा। और एक बार तुम उसे सब रूपों के परे जान लो तो तुम उसे जिस किसी रूप में भी, किसी भी तरह पहचान सकोगे, निष्पक्ष रूप से। और यह चीज़ बहुत मज़ेदार हो उठती है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. ३६१-६३

भाग्य तथा शक्तियों का खेल

एक विमानचालक था। पहले महायुद्ध के उन महान् उड़ाकों में से एक जिन्हें "एस" कहा जाता था। वह एक अद्‌भुत उड़ाका था। उसने अनेक युद्धों में विजयें प्राप्त की थीं और उसे कभी कुछ नहीं हुआ था। लेकिन उसके जीवन में कोई चीज़ घटी और सहसा उसे लगा कि कुछ होने वाला है, कोई दुर्घटना, कि अब सब कुछ ख़तम। वे जिसे अपना "सौभाग्य" कहते हैं, वह जा चुका था। इस आदमी ने असैनिक विमान चलाने के लिए सेना छोड़ दी। वह किसी एक विभाग के हवाई जहाज़ चलाया करता था—नहीं, असैनिक विमानन नहीं; वह युद्ध से तो निकल गया, लेकिन रहा सैनिक विमानों के साथ ही। वह दक्षिण अफ़्रीका की यात्रा करना चाहता था : फ़्रांस से दक्षिण अफ़्रीका। यह स्पष्ट था कि उसकी चेतना में कोई गड़बड़ थी (मेरा उसके साथ व्यक्तिगत परिचय न था, इसलिए मुझे मालूम नहीं कि क्या हुआ था)। मेडागास्कर जाने के लिए (मैं निश्चित रूप से नहीं कह सकती, मेरा ख़याल है कि वह मेडागास्कर ही था), उसने फ़्रांस के किसी शहर से प्रस्थान किया। और फिर वहाँ से वह फ़्रांस लौट आना चाहता था। उस समय मेरे भाई कौंगो के गवर्नर थे और वे जल्दी से अपने स्थान पर लौट जाना चाहते थे। उन्होंने यात्री के रूप में विमान में यात्रा करने की अनुमति माँगी (यह उन विमानों में से एक था जो व्यावसायिक दौरे के लिए होते हैं, यह दिखाने के लिए कि ये विमान क्या कर सकते हैं), बहुत-से लोग मेरे भाई को इस विमान से जाने से रोकना चाहते थे; उन्होंने उनसे कहा : "नहीं, ये यात्राएँ हमेशा ख़तरनाक होती हैं, तुम्हें इससे नहीं जाना चाहिये।" लेकिन आख़िर वे गये उसी में। रास्ते में ख़राबी आ गयी

और उन्हें सहारा के बीचो-बीच उतरना पड़ा। स्थिति बहुत सुखद नहीं थी। फिर भी चमत्कार की भाँति सब कुछ व्यवस्थित हो गया, विमान दोबारा चल पड़ा और मेरे भाई को कौंगो में उतार दिया, ठीक वहीं जहाँ वे जाना चाहते थे। फिर विमान और आगे दक्षिण की ओर चला गया। और कुछ ही समय बाद, आधे रास्ते में ही विमान दुर्घटनाग्रस्त हो गया और वह दूसरा आदमी मर गया...। यह स्पष्ट था कि यह होना ही था। लेकिन मेरे भाई को अपनी नियति में पूर्ण निष्ठा थी, यह निश्चिति कि कुछ नहीं होगा। और वह इस तरह अनूदित हुई: दोनों वायुमण्डलों के मिश्रण ने अव्यवस्था को अनिवार्य बना दिया, क्योंकि सहारा में कोई ख़राबी हुई और विमान उतरने के लिए विवश हुआ, परन्तु अन्त में सब कुछ व्यवस्थित हो गया और कोई सच्ची दुर्घटना नहीं हुई। लेकिन जैसे ही मेरे भाई चले गये तो उस दूसरे आदमी के ऊपर उसके "दुर्भाग्य" (यदि कहें तो) की पूरी शक्ति टूट पड़ी, दुर्घटना पूरी हुई और वह मर गया।

एक नौका के साथ कुछ ऐसी ही घटना हुई। दो व्यक्ति थे (वे काफ़ी प्रसिद्ध थे लेकिन अब मुझे उनके नाम याद नहीं), जो विमान से हिन्द-चीन गये हुए थे। एक दुर्घटना हुई, वे दो ही ज़िन्दा बचे, बाक़ी सब मर गये। निश्चय ही वह एक नाटकीय घटना थी। लेकिन ये दोनों (दम्पति) ज़रूर ऐसे रहे होंगे जिन्हें दुर्भाग्य के वाहक कहा जाता है। वे एक प्रकार का वातावरण लिये रहते हैं। अब, ये दोनों फ़्रांस लौटना चाहते थे, (क्योंकि असल में फ़्रांस लौटते समय ही दुर्घटना हुई थी), वे फ़्रांस वापस जाना चाहते थे, उन्होंने एक नौका पकड़ी और काफ़ी अप्रत्याशित और असाधारण रूप से लाल सागर के बीचो-बीच वह नौका समुद्री चट्टान से जा टकरायी (एक ऐसी चीज़ जो लाखों यात्राओं में एक बार भी नहीं होती) और डूब गयी। बाक़ी के सब डूब गये, लेकिन ये दो बच निकले। और मैं कुछ न कर सकी, जानते हो, मैं कहना चाहती थी: "सावधान, इन लोगों के साथ कभी यात्रा मत करो!"... इस प्रकार के व्यक्ति होते हैं, वे चाहे कहीं क्यों न हों, अपने-आप तो दुर्घटना से अछूते निकल आते हैं, और महाविपत्तियाँ दूसरों के लिए होती हैं।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. ४४५-४७

भोजन की आदतें और उच्चतर जीवन

मैं एक महिला को, स्वीडन की एक युवती को, जानती थी जो साधना करती थी। वह आदत और पसन्द, दोनों के अनुसार निरामिष-भोजी थी। एक दिन उसे कुछ मित्रों ने निमन्त्रण दिया और भोजन में चूज़ा परोसा गया। वह बात का बतंगड़ न बनाना चाहती थी, उसने चुपचाप चूज़ा खा लिया। लेकिन बाद में, रात के समय अचानक उसने अपने-आपको एक टोकरी में पाया, उसका सिर तीलियों के बीच अटक गया था और उसे बहुत ज़ोर से झकझोरा, झकझोरा, झकझोरा जा रहा था। सचमुच उसकी अवस्था दयनीय और दुःखदायक थी। फिर उसने अपने-आपको सिर नीचे और पैर हवा में पाया, और उसे झकझोरा, झकझोरा, झकझोरा जा रहा था। *(हँसी)* वह बड़ी दयनीय दशा में थी। फिर अचानक किसी ने उसके शरीर में से कुछ चीज़ें खींच कर निकालनी शुरू कीं। इससे उसे बहुत अधिक दर्द हो रहा था; कुछ देर बाद हाथ में चाकू लिये कोई आया और उसकी गर्दन काट दी; और फिर वह जाग पड़ी। स्वयं उसने मुझे यह सब सुनाया था। उसने कहा कि इतना भयावह दुःस्वप्न उसने पहले कभी नहीं देखा था। सोने से पहले उसने कुछ नहीं सोचा था। उस बेचारे चूज़े की चेतना उसमें पैठ गयी थी और उसने स्वप्न में जो कुछ अनुभव किया था वह वही पीड़ा थी जो चूज़े ने अनुभव की थी जब उसे बाज़ार ले जाया गया, बेचा गया, उसके पंख निकाले गये और उसकी गर्दन काटी गयी! *(हँसी)*

यही होता है! यानी, कम या अधिक मात्रा में तुम मांस के साथ उस पशु की थोड़ी-बहुत चेतना भी निगल जाते हो जिसे तुम खाते हो। यह बहुत गम्भीर बात नहीं है, लेकिन यह हमेशा बहुत सुखद नहीं होती। और यह स्पष्ट है कि पशु से ज़्यादा मनुष्य की तरफ़ होने में यह तुम्हारी बहुत सहायता नहीं करती! यह सुस्पष्ट है कि आदिम मानव, जो आत्मा की अपेक्षा पशु के ज़्यादा नज़दीक थे, लगता है कि वे कच्चा मांस खाते थे जो पके मांस की अपेक्षा कहीं अधिक पौष्टिक होता है। वे जानवर को मार डालते थे, उसे फाड़ कर टुकड़े-टुकड़े करके खा लेते थे, और वे बहुत शक्तिशाली होते थे। और इसके अलावा, इसी कारण उन दिनों उनकी आँतों में आंत्रपुच्छ का वह टुकड़ा ज़्यादा बड़ा होता था जिसे 'अपैण्डिक्स' कहते हैं और जो इस कच्चे मांस को हज़म करने में सहायता देता था। उसके

बाद आदमी ने पकाना शुरू किया। उसने देखा कि इस तरह चीज़ें ज़्यादा स्वादिष्ट लगती हैं, और उसने पका मांस खाना शुरू कर दिया और क्रमशः वह आंत्रपुच्छ छोटा होता गया और बिलकुल बेकार हो गया। इसलिए अब तो वह बोझमात्र रह गया है जो कभी-कभी बीमारी पैदा करता है।

कहने का मतलब यह कि शायद अब अपने भोजन को बदलने और कम पाशविक चीज़ की ओर जाने का समय आ गया है! यह नितान्त रूप से प्रत्येक व्यक्ति की चेतना की अवस्था पर निर्भर करता है। लेकिन साधारण आदमी के लिए, जो साधारण जीवन बिताता हो, जिसके क्रिया-कलाप साधारण हों, जो अपनी रोटी कमाने के बारे में, अपने-आपको स्वस्थ रखने और शायद अपने कुटुम्ब की देखभाल करने के सिवाय और किसी चीज़ के बारे में न सोचता हो, उसके लिए मांस खाना अच्छा है, उसके लिए कुछ भी खा लेना ठीक है, जो कुछ उसके अनुकूल हो, जिस चीज़ से उसे लाभ होता हो।

लेकिन यदि कोई व्यक्ति इस साधारण जीवन से उच्चतर जीवन में जाना चाहता हो तो समस्या मज़ेदार बनने लगती है; और यदि, उच्चतर जीवन तक पहुँचने के पश्चात् वह अपने-आपको रूपान्तर के लिए तैयार करने की कोशिश करे तो वह बहुत महत्त्वपूर्ण बन जाती है। क्योंकि अवश्य ही ऐसे आहार हैं जो शरीर को सूक्ष्म बनने में मदद कर सकते हैं और ऐसे भी हैं जो उसे पशुता की अवस्था में ही रखते हैं। लेकिन यह चीज़ केवल उसी विशिष्ट समय पर बहुत महत्त्वपूर्ण बनती है, उससे पहले नहीं; और उस क्षण तक पहुँचने से पहले और बहुत-सी चीज़ें करनी हैं।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. २०३-०५

सब्ज़ियों की चेतना

मधुर माँ, अगर हम चूज़े के सन्ताप के शिकार बन सकते हैं तो चुकन्दर और गाजर के भी क्यों नहीं?

मेरा ख़याल है कि चूज़ा चुकन्दर से कहीं अधिक सचेतन है। *(हँसी)* लेकिन मुझे तुम्हें अपना अनुभव सुनाना चाहिये। मैं केवल यह सोच रही थी कि यह कोई साधारण बात नहीं है।

टोकियो में मेरा एक बग़ीचा था। और इस बग़ीचे में मैं ख़ुद सब्ज़ियाँ उगाया करती थी। मेरा बग़ीचा काफ़ी बड़ा था और उसमें बहुत-सी सब्ज़ियाँ लगी थीं। इसलिए रोज़ सुबह पौधों को सींचने आदि के बाद मैं टहलने निकलती थी। मैं चारों ओर घूमा करती थी ताकि खाने के लिए कोई सब्ज़ी चुन सकूँ। और कल्पना करो! कई तरकारियाँ ऐसी थीं जो मुझसे कहा करती थीं: "नहीं, नहीं, नहीं, नहीं, नहीं!"... और फिर कुछ ऐसी थीं जो पुकारती थीं, मैं उन्हें दूर से देखती और यह कहते हुए सुनती: "मुझे लो, मुझे लो, मुझे लो!" इसलिए काम बहुत आसान होता था। जो चाहती थीं कि उन्हें लिया जाये मैं उन्हीं को लेती थी और जो न चाहती थीं उन्हें छूती तक न थी। मैं सोचा करती थी कि यह कोई असाधारण चीज़ है। मुझे अपने पौधों से बहुत प्यार था, मैं उनकी देखभाल किया करती थी, उन्हें सींचते, साफ़ करते समय मैंने उनमें बहुत-सी चेतना डाली थी, इसलिए मुझे लगता था कि उनमें शायद कोई विशेष क्षमता थी।

लेकिन फ़्रांस में भी यही चीज़ थी। दक्षिण फ़्रांस में भी मेरा एक बग़ीचा था जहाँ मैं मटर, मूली, गाजर लगाया करती थी। हाँ तो, उनमें से कुछ ऐसी थीं जो ख़ुश थीं, जो चाहती थीं कि उन्हें तोड़ कर खाया जाये; और कुछ ऐसी थीं जो कहा करती थीं: "नहीं, नहीं, नहीं, मुझे मत छुओ, मुझे मत छुओ!" *(हँसी)*

मधुर माँ, वे इस तरह क्यों कहा करती थीं?

हाँ, इसका ठीक पता लगाने के लिए मैंने परीक्षण किया; और परिणाम हमेशा एक-सा नहीं आया। कभी-कभी तो इसलिए कि पौधा खाने-लायक न था; वह अच्छा न था, सख़्त था, या कड़वा था, खाने-लायक न था। कभी-कभी वह तैयार न होता था, ज़्यादा ही जल्दी होती थी उसके लिए; वह पका न होता था। एक-दो दिन प्रतीक्षा करके, दो-एक दिन बाद वह मुझसे कहता: "मुझे लो, मुझे लो, मुझे लो!"

एक परीक्षण

मेरा ख़याल है कि मैं तुम्हें उस छोटे-से परीक्षण के बारे में बता चुकी हूँ जो मैंने एक दिन किया था। मैंने अपना नियन्त्रण हटा लिया था और

नियन्त्रण भौतिक मन के हाथों में छोड़ दिया था—भौतिक मन ही सन्देह करता है। तो मैंने यह परीक्षण किया: मैं एक कमरे में गयी, फिर उस कमरे से निकल कर मैंने दरवाज़ा बन्द कर दिया। मैंने दरवाज़ा बन्द करने का निश्चय कर लिया था; और जब मैं दूसरे कमरे में पहुँची तो इस मन, भौतिक मन ने कहा: "क्या तुम्हें विश्वास है कि तुमने दरवाज़ा बन्द कर दिया था?" तो, मैंने अपने ऊपर नियन्त्रण नहीं रखा था, है न... मैंने कहा: "अच्छा, मैं इसकी बात मानूँगी!" मैं देखने के लिए वापस गयी। मैंने देखा कि दरवाज़ा बन्द था। मैं लौटी। जैसे ही दरवाज़ा मेरी आँख से ओझल हुआ, उसने मुझसे पूछा: "क्या तुमने ठीक तरह जाँच कर ली है?" तो मैं फिर से गयी...। और यह तब तक चलता रहा जब तक मैंने यह निश्चय नहीं कर लिया: "चलो, इतना काफ़ी है, है न? बन्द हो या न हो, मैं अब देखने के लिए नहीं जाऊँगी!" यह दिन-भर चल सकता था। वह (मन) इसी तरह का बना है। वह इस तरह होना तभी बन्द करता है जब कोई उच्चतर मन, तर्क-संगत मन, उससे कहे: "चुप रहो!" नहीं तो वह अनिश्चित काल तक चलता रहता है...। इसलिए, अगर दुर्भाग्य से तुम इस मन में केन्द्रित होओ, तो वह उन उच्चतर चीज़ों पर भी शंका करता है जिनके बारे में तुम्हें मालूम है कि वे सच्ची हैं, यहाँ तक कि ऐसी वस्तुओं पर भी शंका करता है जिनका तुम्हारे पास भौतिक प्रमाण है—जैसे बन्द दरवाज़े के बारे में शंका करता है, वह शंका करेगा भी, क्योंकि वह शंका से ही बना है। वह हमेशा कहेगा: "क्या तुम्हें पूरा विश्वास है कि यह सच है?... क्या यह तुम्हारा अपना ख़याल नहीं है?... क्या यह तुम्हारी कल्पना नहीं है कि चीज़ ऐसी है?" और जब तक हम उसे चुप और शान्त रहना नहीं सिखाते तब तक वह चलता रहेगा।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. २०७-०८, २५६

उत्तम कहानी की सृष्टि करना

जब मैं छोटी बच्ची थी, मैं इसे "अपने-आपको कहानी सुनाना" कहा करती थी। यह अपने मस्तिष्क में, शब्दों के द्वारा कुछ कहना बिलकुल नहीं है: यह उस स्थान पर चले जाना है जो तरोताज़ा और शुद्ध है, और... वहाँ एक अद्‌भुत कहानी का निर्माण करना है। और यदि तुम्हें पता हो

कि इस तरीक़े से अपने-आपको कोई कहानी कैसे सुना सकता है, और वह वास्तव में सुन्दर, वास्तव में सुसमञ्जस, वास्तव में शक्तिशाली और अच्छी तरह सुव्यवस्थित हो तो यह कहानी तुम्हारे जीवन में संसिद्ध हो सकती है—शायद ठीक उसी रूप में नहीं जिसमें तुमने उसकी सृष्टि की थी, पर जो कुछ तुमने बनाया था उसकी कम या अधिक परिवर्तित भौतिक अभिव्यक्ति के रूप में संसिद्ध हो सकती है।

इसमें सम्भवतः वर्षों लग सकते हैं, परन्तु तुम्हारी कहानी तुम्हारे जीवन को सुसंगठित करने में प्रवृत्त रहेगी।

परन्तु बहुत थोड़े-से लोग ही ऐसे होते हैं जो यह जानते हैं कि कोई सुन्दर कहानी कैसे कही जाती है; और फिर वे उसमें सर्वदा भयावह वस्तुओं को मिला देते हैं जिनके लिए बाद में वे पछताते हैं।

यदि कोई एक उत्तम कहानी की सृष्टि कर सके और उसमें कोई भी भयप्रद वस्तु न मिलाये, सौन्दर्य के सिवा उसमें और कुछ न हो तो प्रत्येक के जीवन पर उस कहानी का **बहुत अधिक** प्रभाव पड़ेगा। और यही बात है जिसे लोग नहीं जानते।

यदि व्यक्ति को यह पता हो कि प्राणमय रूपों के इस जगत् में इस शक्ति का, इस सृजनात्मिका शक्ति का उपयोग कैसे किया जाता है, जब मनुष्य अभी एक बच्चा, एक बहुत नन्हा बच्चा होता है तभी उसे यह ज्ञात हो कि इसका प्रयोग कैसे किया जाता है... क्योंकि सचमुच तभी—अपने बचपन में ही—व्यक्ति अपनी भौतिक भवितव्यता का निर्माण करता है। परन्तु सामान्यतया, जो लोग तुम्हारे इर्द-गिर्द रहते हैं, कभी-कभी तुम्हारे अपने छोटे-छोटे मित्र तक, पर सबसे अधिक माता-पिता और अध्यापक इसमें हस्तक्षेप करते हैं और तुम्हारे लिए सब कुछ बर्बाद कर देते हैं, इतनी अच्छी तरह बर्बाद कर देते हैं कि ऐसा बहुत कम ही होता है कि वह चीज़ पूर्ण रूप से सफल हो पाये।

अन्यथा, यदि उसे उस ढंग से, एक बच्चे की सहज-स्वाभाविक सरलता के साथ किया जाये तो तुम अपने लिए एक भव्य जीवन का संगठन कर सकते हो—मैं भौतिक जगत् की बात कह रही हूँ।

बचपन के सपने प्रौढ़ावस्था के यथार्थ सत्य होते हैं।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. १४२-४३

'पुरोधा' :

दैनन्दिनी

अप्रैल

१. हमें विघ्न-बाधाओं को इस तरह देखना चाहिये मानों मानव प्रकृति की मशीन में कुछ गड़बड़ है जिसे बदलना होगा। तुम उन्हें पाप या कुकर्म के रूप में न देखो जो तुम्हारे अन्दर अपने लिए या साधना के लिए निराशा ले आते हैं।

२. जब विरोधी शक्तियाँ योग को रचनात्मक साधनों, प्रत्यक्ष प्रलोभनों या प्राणिक उपद्रवों द्वारा नहीं तोड़ पातीं तो वे उसे नकारात्मक ढंग से, पहले अवसाद द्वारा या एकदम सामान्य जीवन और साधना को अस्वीकार करके उसे करने की कोशिश करती हैं।

३. हमेशा अपने अन्दर की अभीप्सा पर बल दो, उसे हृदय में गहराई और स्थिरता पाने दो; मन तथा प्राण की बाहरी बाधाएँ हृदय के प्रेम तथा अभीप्सा के विकास के साथ-साथ अपने-आप ही पीछे हट जायेंगी।

४. सबसे अधिक माँग की जाती है परम प्रकाश के प्रति मुड़ने के सतत आग्रह की। हम जितना सोचते हैं प्रकाश उससे कहीं अधिक हमारे निकट है और किसी भी समय उसका मुहूर्त आ सकता है।

५. प्रगति के लिए किया गया प्रयास कभी व्यर्थ नहीं हुआ।

६. हम जो कुछ करते और करने का प्रयत्न करते हैं वह श्रद्धा से आता है और जब श्रद्धा की कमी हो तो कुछ भी नहीं हो सकता। जब हमारे अन्दर श्रद्धा की कमी होती है तो हमारा काम पिछड़ने लगता है और हमें बार-बार असफलता का सामना करना पड़ता है। लेकिन अगर हमारे अन्दर श्रद्धा हो तो हमारे लिए काम कर दिया जाता है। आज तक कोई भी महान् कार्य इस अनिवार्य साहस के बिना नहीं हुआ।

७. समुचित रूप में प्रयत्न करो और तुम प्राप्त कर लोगे; विश्वास रखो और तुम्हारा विश्वास अन्त में सत्य सिद्ध होगा।

८. यह कहने की ज़रूरत नहीं है कि जो सत्य के लिए अभीप्सा करते हैं उन्हें असत्य बोलने से बचना चाहिये।

९. दिव्य और अनन्त माँ के प्रति आत्म-समर्पण करना ही, चाहे वह जितना कठिन क्यों न हो, हमारे लिए एकमात्र फलदायी साधन और हमारा एकमात्र स्थायी आश्रय है; माँ के प्रति आत्म-समर्पण करने का अर्थ यह है कि हमारी प्रकृति उनके हाथों का यन्त्र और हमारी अन्तरात्मा उनकी गोद का बालक बन जाये।

१०. इस बात के प्रति हमेशा सचेत रहो कि तुम हमेशा स्थिर और शान्त बने रहो और अपनी सत्ता में एक सर्वांगीण समता को अधिकाधिक पूर्ण रूप से स्वयं को प्रतिष्ठित करने दो। अपने मन को बहुत अधिक सक्रिय या विक्षोभ में न रहने दो, चीज़ों के सतही दृष्टिकोण से निष्कर्षों पर न कूद पड़ो, हमेशा समय लो, एकाग्र होओ और अचञ्चलता में ही निश्चय करो।

११. एक दिन में तुम अपनी प्रकृति पर विजय नहीं पा सकते, लेकिन धैर्य तथा आग्रही इच्छा द्वारा विजय निश्चित रूप से आयेगी।

१२. पुरानी परिपाटियों से अलग हो जाना और पुराने नियमों को न मानना अच्छा है—लेकिन इस शर्त पर कि व्यक्ति अपने अन्दर एक उच्चतर और सत्यतर चेतना को खोज ले जो सामञ्जस्य, शान्ति, सौन्दर्य और एक उच्चतर, निश्चल और प्रगतिशील व्यवस्था को अभिव्यक्त करे।

१३. **सच्चाई**—हमेशा पूरी सच्चाई के साथ अपना अच्छे-से-अच्छा करना। हमेशा पूरी सच्चाई के साथ अपना अच्छे-से-अच्छा होना।

१४. तुम जो सिखाना चाहते हो उसे पहले तुम्हें अपने जीवन में उतारना चाहिये।

१५. थके बिना काम करने का सबसे अच्छा तरीक़ा यह है कि चाहे जो भी काम हो उसे भगवान् के अर्पण कर दो और तुम्हें जिस सहारे की ज़रूरत है उसे भगवान् में ही पाओ, क्योंकि भगवान् की शक्ति अपार है और उन्हें जो कुछ भी सच्चाई के साथ अर्पित किया जाये वे हमेशा उसका उत्तर देते हैं।

१६. किसी भी बाहरी चीज़ को अपने तक आने और अपने-आपको परेशान न करने दो। लोग जो सोचते हैं, करते या कहते हैं उसका बहुत कम महत्त्व है। एकमात्र चीज़ जिसकी ग़िनती है वह है, भगवान् के साथ तुम्हारा सम्बन्ध।

१७. तुम अपने-आपको दुर्बल बना कर नहीं, केवल बल, सन्तुलन और शान्ति में ही अपनी कामनाओं पर विजय पा सकते हो।

१८. ये हमारी कमज़ोरियाँ ही हैं जो हमें सदा दुःखी बनाती हैं और हम मार्ग पर एक क़दम आगे बढ़ कर आसानी से इनसे छूट सकते हैं।

१९. अगर तुम अपनी श्रद्धा में अटल और अपने हृदय को हमेशा मेरे प्रति खुला रखो, तो चाहे जितनी बड़ी कठिनाइयाँ क्यों न आयें वे तुम्हारी सत्ता को अधिक पूर्ण बनाने में योगदान देंगी।

२०. किसी आदर्श के लिए जीने में तुम जिस आनन्द का अनुभव करते हो वह पथ की सभी कठिनाइयों की निश्चित क्षतिपूर्ति है।
अपनी नियति में श्रद्धा रखो और तुम्हारा पथ प्रदीप्त हो उठेगा।

२१. हम हमेशा उसी चीज़ पर लौट आते हैं : पूर्ण निष्कपटता, पूर्ण ईमानदारी और तुम जो कुछ करो उसमें गरिमा का भाव हो। ताकि तुम चीज़ को उसी तरह करो जैसा करना चाहिये।

२२. निम्न प्रकृति पर विजय किसी भी बाह्य सफलता की अपेक्षा अधिक गहरा और स्थायी आनन्द देती है।

२३. बीमारी को भगवान् की इच्छा न मानो बल्कि उसे शरीर की अपूर्णता मानो जिससे उसी तरह पिण्ड छुड़ाना चाहिये जैसे तुम प्राण और मन की अपूर्णताओं से पिण्ड छुड़ाओगे।

२४. जब तुम ध्यान करने बैठो तो तुम्हें एक बालक की भाँति सरल और निष्कपट रहना चाहिये, अपने बाहरी मन को किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करने दो, कोई आशा या किसी तरह का हठ न करो। यदि यह अवस्था हो तो बाक़ी सब तुम्हारे अन्दर की अभीप्सा पर निर्भर होगा।

२५. जितना हो सके चञ्चल और अधीर होने से बचो, क्योंकि स्थिरता और शान्ति में ही 'भागवत कृपा' की शक्तियाँ अधिकतम कार्य करती हैं।

२६. अगर तुम किसी दिन अपने-आपको आध्यात्मिक जीवन के उपयुक्त बनाना चाहते हो तो तुम्हें सबसे पहले प्राण की चञ्चलता से बचना चाहिये। जो काम करना हो तो उसे शान्त मन से करना, उसे भगवान् की पूजा के रूप में करना और अहंकार तथा प्राणिक कामना से मुक्त होने का प्रयास करना ही अपने-आपको तैयार करने का उत्तम पथ है।

२७. तुम्हें संसार-भर का सारा मानसिक ज्ञान प्राप्त हो सकता है और

फिर भी तुम प्राणिक कठिनाइयों का मुक़ाबला करने में असमर्थ हो सकते हो। सच्ची सहायता देने वाली चीज़ें हैं : साहस, श्रद्धा, प्रकाश के प्रति सच्ची निष्ठा, विपरीत सुझावों और विरोधी वाणियों का परित्याग। उसके बाद ही ज्ञान प्रभावशाली हो सकता है।

२८. प्राणिक गतिविधियों और रचनाओं के विषय में सावधान रहो—जब तुम उन्हें स्वीकृति देते हो तो तुम एक ख़तरनाक ढलान पर खड़े होते हो।

२९. अवसाद किसी भी तरह से या कहीं से भी क्यों न आया हो उसके साथ एक ही बरताव करना चाहिये—वह है, उसे बाहर फेंक देना।

३०. कैसी भी कठिनाइयाँ या बाधाएँ क्यों न आयें, एकमात्र आवश्यक चीज़ है कि मनुष्य भागवत शक्ति तथा पथ-प्रदर्शन में पूरा विश्वास रख कर चुपचाप चलता रहे, साधना की क्रिया के प्रति तब तक अपनी समस्त सत्ता को निरन्तर और अधिकाधिक खोलता रहे जब तक सब कुछ सचेतन न हो जाये और आवश्यक परिवर्तन के लिए सहमत न हो जाये।

'योग के तत्त्व'

श्रद्धा

श्रद्धा, विश्वास और भरोसे में क्या अन्तर है?

श्रद्धा की अनुभूति पूरी सत्ता में होती है; विश्वास मानसिक है; भरोसे का अर्थ है किसी व्यक्ति या ईश्वर पर या फिर अपनी खोज या अपने उद्यम के परिणाम की निश्चिति पर पूरा-पक्का भरोसा रखना।

"अन्ध-श्रद्धा" से लोगों का क्या मतलब होता है?

इस वाक्य का कोई सच्चा अर्थ नहीं है। मेरे ख़याल से उससे उनका मतलब होता है कि किसी प्रमाण के बिना वे विश्वास नहीं करेंगे—लेकिन प्रमाण मिलने के बाद किसी निष्कर्ष पर पहुँचना श्रद्धा नहीं है, यह या तो

जानकारी है या फिर मानसिक राय। श्रद्धा एक ऐसी चीज़ है जो प्रमाण या जानकारी मिलने से पहले व्यक्ति के अन्दर होती है और जो जानकारी या अनुभूति तक पहुँचने में तुम्हारी सहायता करती है। ईश्वर का अस्तित्व है, इसका कोई प्रमाण नहीं है, लेकिन अगर मुझे ईश्वर पर श्रद्धा है तो मैं दिव्य अनुभूति तक पहुँच सकता हूँ।

चैत्य श्रद्धा, मानसिक श्रद्धा, प्राणिक श्रद्धा और शारीरिक श्रद्धा के बीच क्या अन्तर है?

मानसिक श्रद्धा सन्देहों का सामना करके सच्चे ज्ञान की ओर खुलने में तुम्हारी सहायता करती है; प्राणिक श्रद्धा विरोधी शक्तियों के हमलों से रक्षा करती है या उनको हरा कर, सच्ची आध्यात्मिक इच्छा और क्रिया की ओर खुलने में तुम्हारी सहायता करती है; शारीरिक श्रद्धा तुम्हें सभी शारीरिक अन्धकार, जड़ता या पीड़ा के सामने दृढ़ता से टिकाये रखती है तथा सच्ची चेतना के मूल तक खुलने में तुम्हारी सहायता करती है; चैत्य श्रद्धा ईश्वर के सीधे स्पर्श की ओर खोलती तथा एकता और समर्पण लाने में सहायता करती है।

"क्रियाशील श्रद्धा" का क्या अर्थ है? क्या प्रत्येक श्रद्धा क्रियाशील नहीं होती?

श्रद्धा तामसिक और प्रभावहीन हो सकती है, उदाहरण के लिए, "मुझे विश्वास है कि श्रीमाँ मेरे लिए सब कुछ कर देंगी, इसलिए मैं कुछ भी नहीं करूँगा। जब वे चाहेंगी, मेरा रूपान्तर कर देंगी।" यह क्रियाशील नहीं बल्कि गतिहीन और निष्क्रिय श्रद्धा है।

पूर्ण श्रद्धा और समर्पण होने के बावजूद क्या साधकों को भागवत कृपा के द्वारा उच्च अनुभूतियाँ पाने के लिए लम्बे समय तक प्रतीक्षा करनी होती है?

अगर सभी भागों में पूर्ण श्रद्धा और समर्पण हों तो यह सम्भव ही नहीं कि कोई अनुभूति ही न हो।

—श्रीअरविन्द

"मेरी नन्हीं मुस्कान" के नाम पत्र

('मेरी नन्हीं मुस्कान' के नाम, यह उन पहले बच्चों में से थी जिन्हें आश्रम में प्रवेश मिला था। यह चौदह वर्ष की अवस्था में आयी थी। नन्हीं मुस्कान बहुत वर्षों तक माताजी के कपड़ों पर कशीदाकारी करती रहीं और फिर उनकी व्यक्तिगत सेविकाओं में से एक हो गयीं। उन्होंने सत्रह वर्ष की अवस्था में माताजी को पत्र लिखना शुरू किया था।)

माँ,

मैं 'क' के साथ मन-ही-मन काल्पनिक बातचीत कर रही थी। मैं कोई ध्यान नहीं दे रही थी, लेकिन अचानक एक क्षण के लिए मुझे ख़याल आया कि मुझे यह सब माताजी को लिखना होगा और अचानक बातचीत समाप्त हो गयी।

इसी तरह मैं लोगों के साथ मन-ही-मन बातचीत करती हूँ; मेरा मन, जैसे विचार उसके मन में आयें, जैसे विचार उसे अच्छे लगें, उन्हें किसी के मुँह में रख देता है और मेरे सिर में शोर मचाता है।

मैं ऐसी बुरी, मूढ़ता-भरी चीज़ें लिखते-लिखते थक गयी हूँ। पता नहीं यह विभ्रान्त मन कब शान्त होगा।

यह इतना भयंकर नहीं है। मन सदा किसी-न-किसी चीज़ के साथ व्यस्त रहना चाहता है और कहानियाँ बनाना (यह जानते हुए भी कि वे सच्ची नहीं हैं) चञ्चल मन का सबसे अधिक मासूम धन्धा है। निस्सन्देह, उसे किसी दिन शान्त और स्थिर होना होगा ताकि वह ऊपर से आने वाले प्रकाश को ग्रहण कर सके; लेकिन इस बीच तुम निश्चय ही मुझे ये कहानियाँ सुना सकती हो। मैं इन्हें मूर्खतापूर्ण से अधिक रोचक पाती हूँ और इनमें मुझे मज़ा आता है। इसलिए यह न कहो कि मैं माताजी से यह या वह नहीं कहूँगी, बल्कि यूँ कहो कि मैं माँ से सब कुछ खुल कर कह दूँगी।

११ दिसम्बर १९३२

प्यारी माँ,

आपने मुझे विरल अवसर प्रदान किया है फिर भी मैं कभी सन्तुष्ट नहीं होती। मेरी प्राणिक सत्ता हमेशा अधिक, और अधिक की माँग

करती रहती है। आप जो देती हैं उससे वह कभी सन्तुष्ट नहीं होती।

मेरी बच्ची, मैं तुम्हें एक ऐसा रहस्य बताने जा रही हूँ जिसे तुम समझने की कोशिश करो : तुम इसलिए असन्तुष्ट नहीं हो कि मैं उतना नहीं देती जितने की तुम्हें ज़रूरत है बल्कि इसलिए कि **मैं तुम्हें ज़्यादा देती हूँ, जितना तुम ले सकती हो उससे कहीं ज़्यादा। अपने-आपको खोलो**, अपने-आपको अधिक देकर अपनी **ग्रहण-शक्ति** बढ़ाओ और तुम देखोगी कि समस्त असन्तोष ग़ायब हो जायेगा। १२ दिसम्बर १९३२

प्यारी माँ,

मैं कहीं भी कोई प्रगति नहीं पाती। यहाँ तक कि अपने काम में भी मैं अभी तक नियमित नहीं हूँ, तब मैं आपकी सहायता की आशा कैसे कर सकती हूँ?

मेरी समझ में नहीं आता कि तुम्हारा मतलब क्या है। मेरी सहायता हमेशा तुम्हारे साथ रहती है, उतनी पूर्ण जितनी कि हो सकती है। अब यह तुम पर निर्भर है कि तुम अपने-आपको खोलो और उसे ग्रहण करो। और निश्चय ही तुम विद्रोही बन कर या असन्तुष्ट होकर यह न कर पाओगी।

कितनी बार मैंने निश्चय किया है कि नियमित रूप से काम करूँगी और कितनी बार इसमें असफल हुई हूँ! अतः, मैंने सोचा कि अगर मैं आपसे कह दूँ तो मुझे आपकी मदद मिलेगी और मैं अपने काम में नियमित हो सकूँगी, लेकिन सब व्यर्थ।

तब मैं ऐसे अवसाद और असन्तोष की अवस्था में आपको लिखना कैसे जारी रख सकती हूँ?

लेकिन इसके लिए मैं आपको दोष नहीं देती; दोष मेरा है, मेरे अन्दर प्रबल इच्छा-शक्ति नहीं है, फिर मैं इससे कैसे पिण्ड छुड़ा सकती हूँ?

तुम्हारे अन्दर प्रबल इच्छा-शक्ति की ज़रूरत नहीं है—तुम्हें केवल मेरी इच्छा का उपयोग करना है।

बच्ची, बहुत सावधान रहो। अवसाद, अनुत्साह और विद्रोह के लिए

दरवाज़ा न खोलो—यह तुम्हें चेतना से दूर, बहुत दूर ले जाकर अन्धकार की गहराइयों में डुबो देता है जहाँ सुख कभी प्रवेश भी नहीं पा सकता। मुस्कान ही तुम्हारी सबसे बड़ी शक्ति थी; क्योंकि तुम जीवन पर मुस्कुराना जानती थीं, साथ ही तुम साहस और स्थिरता से काम करना भी जानती थीं और इसमें तुम अपवाद-रूप थीं। लेकिन तुमने और लोगों के उदाहरण का अनुसरण करना सीख लिया, तुमने उनसे असन्तुष्ट, विद्रोही, अवसादग्रस्त होना सीखा और अब तुमने अपनी मुस्कान को भी खिसक जाने दिया, और साथ ही मेरे ऊपर विश्वास और श्रद्धा को भी। इस स्थिति में अगर सभी दिव्य शक्तियाँ तुम्हारे ऊपर केन्द्रित हो जायें तो भी बेकार होंगी—तुम उन्हें ग्रहण करने से इन्कार कर दोगी।

इलाज एक ही है, और तुम्हें उसे स्वीकार करने में देर न लगानी चाहिये; अपनी मुस्कान को वापस ले आओ, अपनी श्रद्धा को वापस ले आओ, फिर से वही विश्वस्त बालिका बन जाओ जो तुम थीं, अपने दोषों और कठिनाइयों के बारे में ही सोचती न रह जाओ—तुम्हारी मुस्कान उन सबको भगा देगी।

१६ दिसम्बर १९३२

प्यारी माँ,

मैंने बहुत बार देखा है कि जब मैं नींद से उठती हूँ तो मेरे सिर में एक तरह का शोर होता है मानों बहुत-से लोग एक साथ बोल रहे हैं और मैं कुछ नहीं समझ पाती कि वे क्या कह रहे हैं। और मुझे लगता है कि यह शोर सारी रात होता रहा है। यह बाज़ार की तरह होता है जहाँ लोग एक साथ बोलते हैं, उसमें से कुछ समझ में नहीं आता।

तुम अपनी नींद में उस शोर के बारे में सचेतन हो रही हो जो अत्यन्त जड़-भौतिक मन के यान्त्रिक विचार अपने क्षेत्र में पैदा करते हैं।

१८ दिसम्बर १९३२

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १६, पृ. ७५-७८

जगत् निरन्तर विकास कर रहा है

जानने-लायक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि योग और विशेषकर श्रीअरविन्द द्वारा प्रतिपादित योग कोई धर्म या मत नहीं है। यह एक ऐसी चीज़ है जो मनुष्य की आधारभूत आवश्यकता को पूरा करती है। तुम श्रीअरविन्द के योग पर आचरण करना चाहते हो तो इस बात का कोई महत्त्व नहीं कि तुम हिन्दू, ईसाई, मुसलमान हो या नास्तिक। तुम देखोगे कि सभी योग भगवान् की सर्वव्यापकता को मान कर चलते हैं। केवल श्रीअरविन्द ही हैं जो नास्तिक का दृष्टिकोण भी तुम्हारे सामने रखते हैं और वह भी नास्तिक से ज़्यादा ज़ोर के साथ। वे दिखलाते हैं कि अगर हम इस दृष्टिकोण को स्वीकार कर लें तो कुछ ऐसे प्रश्न छूट जायेंगे जिनका कोई उत्तर न होगा। तब फिर वे ब्रह्म और उसकी अभिव्यक्ति के बारे में भारत की धारणा समझाते हैं और अगर हम 'दिव्य जीवन' में वर्णित उनके अन्तर्दर्शन के विचार को पकड़ सकें तो उनके दृष्टिकोण के महान् सत्य को पा लेंगे, क्योंकि यह सबसे अधिक सर्वांगीण है और अन्य सभी दृष्टियों को अपना उचित स्थान देता है।

जब ओरोवील का घोषणा-पत्र प्रकाशित हुआ तो रूसी प्रतिनिधियों ने उसे अस्वीकार कर दिया क्योंकि उसमें एक वाक्य था, "ओरोवील में रहने के लिए व्यक्ति को भागवत चेतना का सहर्ष सेवक होना चाहिये।" रूसी प्रतिनिधियों ने वह पसन्द न किया। उन्हें बतलाया गया कि भागवत चेतना किसी धर्म का अंग नहीं है बल्कि वह मनुष्य के अन्दर पूर्ण चेतना है। रूसियों ने कहा, हमारा पूर्ण चेतना से कोई झगड़ा नहीं है (देखो, मन के परे अन्तर्भास है और उससे भी बहुत ऊपर पूर्ण चेतना है) अतः, उनके लिए वह वाक्य बदल दिया गया और उसका रूप हुआ, "ओरोवील में रहने के लिए मनुष्य को पूर्ण चेतना की सेवा करने के लिए तैयार होना चाहिये।" अब यह उनके ज़िम्मे था कि वे पूर्ण चेतना का मतलब समझें। हमारे लिए पूर्ण चेतना—*पूर्णम् इदम्*—और दिव्य चेतना एक ही हैं। श्रीअरविन्द ने हमारे सामने अपने विचार इतने तर्कसंगत रूप में रखे

हैं, इतनी पूर्णता के साथ रखे हैं कि अगर उन्हें ठीक तरह से समझा जा सके तो किसी को उन पर आपत्ति नहीं हो सकती।

श्रीअरविन्द के विचार का एक और मज़ेदार पक्ष यह है कि जगत् विकास कर रहा है। यह विकास का क्षेत्र है, क्योंकि इसमें पहले ही प्रतिविकास हो चुका है। भगवान् इसके अन्दर पहले से ही प्रविष्ट हैं। यह कोई नया विचार नहीं है। हमारे वेद, उपनिषद्, गीता सब इसे स्वीकार करते हैं। वे अश्वत्थ वृक्ष की बात करते हैं जिसकी जड़ें ऊपर हैं और शाखाएँ नीचे। यह अन्तर्लयन की प्रक्रिया है। श्रीअरविन्द के योग में दिव्य चेतना के दो पक्ष हैं—स्थावर और जंगम, एक वह जो अभिव्यक्त नहीं है, दूसरा जो अभिव्यक्त हो रहा है। जो शक्ति भगवान् को अभिव्यक्त करती है श्रीअरविन्द उसे अतिमानस कहते हैं। हर चीज़ उसी से आती है। अतिमानस से अधिमानस क्षेत्र प्रकट होता है जो देवों का लोक है। अधिमानस से अन्तर्भास, वहाँ से प्रदीप्त मन, उसके बाद उच्चतर मन और फिर मन। उससे नीचे प्राण, प्राणमय ऊर्जा, सूक्ष्म भौतिक और फिर आते हैं भौतिक या पार्थिव लोक।

श्रीअरविन्द अपने-आप बहुत बड़े कवि थे। उन्होंने शेली, शेक्सपीयर, वर्ड्सवर्थ आदि की कविताओं की पंक्तियों का उद्धरण देकर बतलाया है कि यह पंक्ति अधिमानस से आयी है, यह अन्तर्भास की है और तुम श्रीअरविन्द की उद्धृत पंक्तियों और आम पंक्तियों में फ़र्क देख सकते हो। तुम ऐसा कोई और कवि न पा सकोगे जो काव्य की प्रेरणा के मूल का इस तरह विवेचन कर सके। श्रीअरविन्द केवल आन्तरिक लोकों की ही नहीं उनके रंगों की भी बात कहते हैं। अतिमानस का रंग सुनहरा है, अधिमानस आकाश-नील है जो उच्चतर मानस तक उतरते-उतरते अधिकाधिक गहरा होता जाता है। मन पीला है, प्राण लाल, शुद्ध प्राण पार्थिव तक पहुँचते-पहुँचते गहरा लाल हो जाता है। इसके बाद रंगों के मेल हैं जामनी, बैंगनी आदि। इन सब रंगों का श्रीअरविन्द ने अपने अनुभव से वर्णन किया है और मज़ेदार बात यह है कि ये बातें वेद, उपनिषद् और तन्त्र के प्राचीन विचारों के साथ पूरी तरह से मेल खाती हैं। वे स्वतन्त्र रूप से कुछ निष्कर्षों पर आते हैं और जब हम प्राचीन पद्धतियों पर नज़र डालते हैं तो दोनों में कोई भेद नहीं दिखायी देता। वे कुण्डलिनी को स्वीकार करते हैं, वे विभिन्न चक्रों को

उनके नाम के साथ स्वीकार करते हैं। हाँ, उनका कुण्डलिनी खोलने का तरीक़ा कुछ भिन्न है, लेकिन वे दूसरे तरीक़े का खण्डन नहीं करते। अगर और तरीक़ा कुछ लोगों के लिए सच्चा है तो उन्हें उसका अनुसरण करने देते हैं, इसमें कोई हर्ज़ नहीं। लक्ष्य है, अन्तिम परिणाम, चरम सिद्धि। तो हर एक अपने रास्ते पर चल सकता है।

श्रीअरविन्द विकास और प्रतिविकास के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। वे न केवल प्राचीन वैज्ञानिक, वानस्पतिक, जैव विचारों को स्वीकार करते हैं बल्कि वे हमें कुछ ऐसी चीज़ भी देते हैं जो उनमें नहीं है। सभी वैज्ञानिक बतलाते हैं कि चीज़ें **कैसे** होती हैं। श्रीअरविन्द इसके साथ यह भी बतलाते हैं कि वे **क्यों** होती हैं और वह भी इतने वैज्ञानिक ढंग से कि हम आश्चर्य में पड़ जाते हैं। वे कहते हैं कि दिव्य चेतना हर चीज़ में है। इस सर्वज्ञ चेतना में एक आत्म-संकल्प होता है जिसे वे **सत्य विचार** कहते हैं, और कहीं पर वह इच्छा करता है, "यहाँ इस पेड़ में मैं आम का पेड़ बन जाऊँगा," और उसके इसी संकल्प से वह पेड़ आम का पेड़ बन जाता है। और यह बात सृष्टि की प्रत्येक चीज़ पर लागू होती है। कहीं पर वह इच्छा करता है, "यहाँ मैं ताँबा बनूँगा" और रासायनिक परिवर्तन शुरू हो जाते हैं और अन्त में वह दिव्य चेतना ही है जो सृष्टि को चरितार्थ करती है और अपनी सृष्टि की बहुविधता के द्वारा कार्य करती है। एक बार इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया जाये तो विज्ञान की खोयी हुई कड़ियाँ मिल जाती हैं। कैसे? आनुवंशिकी की हाल की खोजों ने बतलाया है कि जब किसी नारी को गर्भ रहता है तो कुछ कोषाणु एक समूह बन कर नाक बन जाते हैं, कुछ और कोषाणु कान बन जाते हैं। तो विज्ञान का कहना है कि कोषाणुओं में कुछ सजातीयता और चेतना होती है; यह अपने-आपमें एक बहुत बड़ा क़दम आगे है। अब अगर विज्ञान अपने सिद्धान्तों में यह भी मान ले कि सारे विश्व में एक पूर्ण चेतना व्याप्त है जिसमें ज्ञान, शक्ति, इच्छा स्वयम्भू हैं तो वह नये क्षितिज खोल देगा और बहुत आगे बढ़ जायेगा। मैं यह मानता हूँ कि आजकल होने वाले शोधों में, विशेषकर मनोविज्ञान में, वस्तुतः प्रत्येक क्षेत्र में विज्ञान और आध्यात्मिकता के बीच की दरारें मुँदती जा रही हैं।

(क्रमशः)

—नवजात जी

ज़िन्दगी-रूपी किताब

(पिछले साल, छात्र-जीवन में लिखा लेख)

खिड़की खोलते ही ठण्डी हवा आँखों को सहला गयी, हर शोर को थमा गयी और फिर मेरी नज़रें उन पेड़ों पर पड़ीं जो हवा के बहाव के साथ मन्द-मन्द झूम रहे थे। उनकी शाखाओं पर पक्षी चहचहा रहे थे। पूरे वातावरण में कोमलता थी, एक मधुरता का एहसास था जो मेरे दिल को अपनी ओर खींच रहा था।

ऐसे ही कुछ आम पल ख़ास बन जाते हैं जो हमारे कहीं आस-पास ही होते हैं पर हम खिड़की को खोलना ही भूल जाते हैं। वह रौशनी, वह नयापन, भिन्न रंग एक अलग अन्दाज़ से सबको भाते हैं। कैसी अजीब बात है ज़िन्दगी के पन्नों पर अनेक चित्र छपे होते हैं पर हम उन्हें यूँ ही पलट देते हैं मानों वे पन्ने ख़ाली हों और बाद में जब लगता है कि कई सारे पन्ने पलट दिये पर कुछ मिला ही नहीं फिर दोबारा उन पलटे पन्नों को देखने में बहुत देर हो जाती है।

न जाने क्यों असलियत में जी कर भी अपने ख़ुद के ढंग से जीने से कतराते हैं? ज़िन्दगी-रूपी किताब ही असलियत है और हम जिस ढंग से उसके पन्ने पलटते हैं वह हमारी पहचान बनाता है। इस किताब को पढ़ने का हर इन्सान को अधिकार है और सभी अपनी सूझ-बूझ से इसे पढ़ते भी हैं, पर फिर भी कुछ छूट जाता है।

जो अपनी किताब के हर शब्द और हर चित्र के रंगों को पहचान कर उसे जीता है, वह इस किताब के लेखक और चित्रकार की एक झलक पा जाता है!

—शक्ति शर्मा

कभी न उऋण होना चाहूँगा

ग्वालबालों के साथ गौओं को चराने ले जाना तो कृष्ण को सबसे प्रिय था और गोपबाल तो रोज़ कृष्ण के संग की उतावली से प्रतीक्षा किया करते। सवेरे-सवेरे दल बाँध कर प्रिय मित्र के साथ निकलना, यमुना के

तीर, कदम्ब की छाँव में बाँसुरी बजाते हुए कृष्ण की उस अमिट छवि को एकटक निहारना, देवताओं को भी दुर्लभ उस संगीत में आकण्ठ डूब जाना—कौन-सा मनुष्य या देवता इस स्वर्गिक सुख के लिए लालायित न होता? वहाँ के चराचर सभी के लिए वह दृश्य नेत्रोत्सव होता। दोपहर को सभी के यहाँ से आयी हुई पोटलियाँ खुलतीं—दूध, दही, मक्खन, क्या-क्या नहीं होता उनमें। कृष्ण को खिला कर ही वे स्वयं खाते। लेकिन... सुनाम नामक वह गोप भोजन के समय रोज़ इधर-उधर हो जाता। औरों की नज़रों से भले वह ओझल हो जाये लेकिन अन्तर्यामी क्या कुछ नहीं जानते। उस दिन दोपहर को "मैं अभी आया" कह कर कृष्ण बिजली की चमक की तरह पल-भर में ग़ायब हो गये। कुछ ही दूरी पर नमक की डली के साथ सूखी रोटी खाते हुए सुनाम को जा धरा। शिकायत के लहजे में बोले—"अरे सुनाम, कैसे मित्र हो तुम। आज तक अपनी माँ के हाथ की बनी रोटी तुमने मुझे चखायी तक नहीं!" यह कहते-न-कहते कृष्ण उसके हाथ से रोटी छीन यह जा वह जा हो लिये, इधर सुनाम, "कृष्ण, मेरे भाई, मेरे सखा, उस सूखी-बासी रोटी को फेंक दो, वह तुम्हारे लिए नहीं है, तुम उसे हर्गिज़ मत खाना," कहता-कहता कृष्ण के पीछे-पीछे भागा, लेकिन तब तक तो कृष्ण ने बलराम के पास पहुँच कर सारा क़िस्सा मज़े लेकर सुना भी डाला। कृष्ण की बात सुन कर बलराम बोल उठे—"कृष्ण, तुम अपनी इस छीना-झपटी से कभी बाज़ नहीं आओगे क्या? यह क्या कर डाला तुमने। उसकी सूखी रोटी भी छीन लाये, अब वह बेचारा सारे दिन उपवास करेगा क्या?"

"अरे, यह तो सचमुच अनर्थ हो गया दाऊ, नहीं, नहीं, मैं ख़ुद अपने हाथों से अभी उसे खिला कर आता हूँ" इतना कह कर कृष्ण उलटे पैरों लौट पड़े।

व्याकुल कृष्ण सुनाम के पास पहुँचे तो देखा, रोते-रोते उसका बुरा हाल हो गया था, बहुत स्नेह के साथ अपने हाथ से जब मित्र को खाना खिलाया तो वह सुध-बुध खो बैठा, भक्त और भगवान् के प्रेमालाप में गोधूलि वेला आन पहुँची। अचानक सुनाम को गौओं का ख़याल आया —आज कहाँ तितर-बितर हो गयीं सब? गायें तो किसी और की थीं। अब क्या होगा? कृष्ण बोले—"मित्र, चिन्ता न करो, मैं उन्हें ढूँढ़ कर अभी

लाया।" इतना कहते-न-कहते वे फिर भाग खड़े हुए। सुनाम चिल्लाता रह गया—"कृष्ण, कृष्ण, लौट आओ, पल-भर में घोर अँधेरा छा जायेगा, वन में हिंसक पशु निकलते हैं, काँटों से भरे जंगल में मत जाओ कृष्ण।" लेकिन कृष्ण तो तब तक न जाने कहाँ पहुँच गये थे। सुनाम अचेत होकर वहीं ज़मीन पर गिर पड़ा।

किसी के कोमल स्पर्श से जब सुनाम को होश आया तो कृष्ण की गोद में उसने अपने-आपको पाया। रोमाञ्चित हो उठा वह, अपने प्रिय सखा के पैर सहलाते हुए, बार-बार उनके गले से लगता हुआ वह रो पड़ा—"ठीक तो हो तुम मेरे भाई, कहीं कोई काँटा तो नहीं चुभा तुम्हारे पैरों में।"

उसका यह विलाप देख कर अचानक श्रीकृष्ण को अपने विराट् स्वरूप का स्मरण हो आया, प्यार से बोले—"मित्र! मेरे लिए तुम बेकार ही दुःखी होते हो, न मुझे कभी चोट लगती है, न कभी अन्धकार मेरा रास्ता ही रोक सकता है। मैं आनन्दमय हूँ और हमेशा आनन्द में निवास करता हूँ।" इतना कह कर उन्होंने सुनाम को अपने दिव्य रूप का दर्शन कराया।

उस विराट् रूप को देख कर सुनाम उनके चरणों पर गिर पड़ा। अपने सामान्य रूप में आकर कृष्ण बोले—"मित्र! मेरे लिए विलाप कैसा?"

हाथ जोड़ कर सुनाम बोला—"कृष्ण, तुम तो सचमुच सर्वव्यापी प्रभु हो। परन्तु आज मुझे एक वचन दो।"

"निःसंकोच कहो मित्र। क्या चाहते हो।" कृष्ण ने कहा।

"प्रतिज्ञा करो कि आज के बाद कभी गौओं को ढूँढ़ने के लिए अँधेरे में, धूप में, काँटों से भरे बीहड़ वन में, अर्थात् किसी भी ख़तरनाक स्थान पर नहीं जाओगे। ज्ञानियों के लिए भले तुम महाप्रभु हो लेकिन हम गोपालों के लिए वही सखा बन कर रहो जो जमुना तट पर, कदम्ब के नीचे बाँसुरी बजाता हुआ जड़-जंगम सबका मन मोह लेता है।"

भक्त के निश्छल प्रेम की सरिता में भगवान् आकण्ठ डूब गये। उसे अपने आलिंगन में भर कर बोल उठे—"मेरे प्रियतम मित्र, मैं तुम सबका सखा था, सखा हूँ और आजीवन वही रहूँगा। आज तूने मुझे मोल ले लिया, मैं तेरा ऋणी हूँ मित्र और इससे मैं न कभी उऋण हो सकता हूँ और न कभी होना चाहूँगा।"

'पुरोधा', जनवरी २००८ से —वन्दना

उनकी कृपा का स्पर्श कठिनाई को सुयोग में, विफलता को सफलता में और दुर्बलता को अविचल बल में परिणत कर देता है। भगवती माँ की कृपा परमेश्वर की अनुमति है, आज हो या कल, उसका फल निश्चित है, पूर्वनिर्दिष्ट अवश्यंभावी और अनिवार्य है ।

— श्रीअरविन्द

अमरनाथ शिक्षण संस्थान, मथुरा (उ.प्र.)

फोन– 0565–3240006, 9358340375

Website : anvaschool.org, Email-amarnath.mtr1@rediffmail.com

Registered: PY/47/2018-20
RNI No.18135/70

Date of Publication: 1st April 2019
Rs. 15.00 (Monthly)

A school by The Vatika Group vatika

Nature Friendly

"My child is in Grade 4. My son's journey with this school started 5 years back.

What really drew me to the school at the first instance is the calmness that prevails in the atmosphere!

Being a doctor myself, it was very important for me that the school environment should be healthy – class rooms in MatriKiran are the most nature friendly, spacious, well ventilated, they open out to green spaces... perfect to stay in communion with nature."

Dr. Nidhi Gogia
Mother of Soham Sharma, Grade 4

ADMISSIONS OPEN
Academic Year 2018-19

ICSE Curriculum

MatriKiran
www.matrikiran.in

Junior School SOHNA ROAD
Pre Nursery to Grade 5

Senior School VATIKA INDIA NEXT
Grade 6 onwards

Junior School
W Block, Sec 49, Sohna Rd, Gurugram
+91 124 4938200, +91 9650690222

Senior School
Sec 83, Vatika India Next, Gurugram
+91 124 4681600, +91 9821786363